मीडिया का आत्मावलोकन

संवाद सेतु

अंक : 9 पृष्ठ : 20 अप्रैल 2012 नयी दिल्ली

बदलते स्वरूप में सिनेमा व उसकी पत्रकारिता ● चमकता रजतपटल, चुकता स्मृतिपटल

संवादसेतु

संपादक
आशुतोष

सह–संपादक
रवि शंकर

संपादक मंडल
अमल कुमार श्रीवास्तव
नेहा जैन
सूर्यप्रकाश

कार्यालय
प्रेरणा, सी–56/20,
सेक्टर–62, नोएडा

संपर्क:
0120-2400335
mail@samvadsetu.com
वेब : samvadsetu.com

अनुरोध

संवादसेतु की इस पहल पर आपकी टिप्पणी एवं सुझावों का स्वागत है। अपनी टिप्पणी एवं सुझाव कृपया उपरोक्त ई–मेल पर अवश्य भेजें।

'संवादसेतु' मीडिया सरोकारों से जुड़े पत्रकारों की रचनात्मक पहल है। 'संवादसेतु' अपने लेखकों तथा विषय की स्पष्टता के लिए इंटरनेट से ली गई सामग्री के रचनाकारों का भी आभार व्यक्त करता है। इसमें सभी पद अवैतनिक हैं।

अनुक्रमणिका

संपादकीय 2

आवरण कथा
बदलते स्वरूप में सिनेमा व उसकी पत्रकारिता 3

परिप्रेक्ष्य
चमकता रजतपटल, चुकता स्मृतिपटल 5

साक्षात्कार
फिल्म पत्रकारिता की संभावनाएं बढ़ी हैं, गंभीरता घटी है– जयप्रकाश चौकसे 8

लेख
हिन्दी सिनेमा और पत्रकारिता 11

संस्मरण
हिन्दी पत्रकारिता के अमिट हस्ताक्षर– राजेन्द्र माथुर 12

न्यू मीडिया
टेलीविज़न के बदले–बदले अंदाज 14

परिचर्चा
रिपोर्टिंग सिनेमा की या सेलेब्रिटी की 15

शोध
हिन्दी समाचार पत्रों में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की प्रस्तुति का अध्ययन 16

विविधा
हिंदी पत्रकारिता का समाचार–सूर्य 'उदन्त मार्तण्ड' 17
समांतर सिनेमा का सामाजिक प्रभाव पर चर्चा 18
राम बहादुर राय पर केन्द्रित 'मीडिया विमर्श' का विमोचन 18
प्रदीप सौरभ को अंतर्राष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान 19
रिपोर्टिंग दुनिया का सबसे खराब पेशा 19

मीडिया शब्दावली 20

भारत में सिनेमा के सौ साल पूरे हुए हैं। अपेक्षाकृत नया होते हुए भी सिनेमा ने जनसंचार के क्षेत्र को गहरे तक प्रभावित किया है। खासतौर पर "सवाक" फिल्मों के निर्माण के साथ ही इसने एक ओर संवाद का सूत्र अपने हाथ में ले लिया तो दूसरी ओर जनसंचार के अन्य माध्यमों, विशेषतः लोक माध्यमों को धकेलना शुरू किया।

जल्द ही यह स्थिति आ गयी कि सिनेमा हॉल में फिल्म प्रदर्शन से पहले और मध्यांतर में विज्ञापन एवं प्रचार फिल्में दिखाये जाने लगे। सरकार भी अपने संदेश देने तथा लोकहित में जारी विज्ञापनों को लोकप्रिय फिल्मों से पहले दिखाने लगी। इसका सबसे महत्वपूर्ण पहलू था कि अनपढ़ आदमी को भी दृश्यों तथा संवाद के माध्यम से संदेश दिया जा सकता था।

सिने पत्रकारिता इससे लगभग बीस साल बाद शुरू हुई। चटपटी खबरें और रंगीन चित्रों के माध्यम से एक कल्पनालोक का सृजन किया जा रहा था। सिनेमा और सिने पत्रकारिता इस रास्ते पर हाथों में हाथ लिये आगे बढ़ रहे थे। एक पीढ़ी बीतते–बीतते फिल्मों का जादू सर चढ़ कर बोलने लगा। दादा साहब फाल्के को जहां अपनी फिल्मों में महिला चरित्र भी पुरुष पात्रों से कराने पड़ते थे, वहीं दो दशक बाद कुलीन परिवारों की लड़कियां भी फिल्मों में अपना भविष्य तलाशने लगीं। सामाजिक और लोकमान्यताओं के इस बदलाव में सिने पत्रकारिता का बड़ा योगदान था।

राजनीति हो या बाजार, दोनों ही हर नयी चीज को अपने अनुसार ढालने की कोशिश करते हैं, उससे लाभ उठाने की प्रवृत्ति रखते हैं। फिल्मों की लोकप्रियता का लाभ भी दोनों ने ही उठाया। एक ओर सरकार की पंचवर्षीय योजनाएं अधूरेपन और असफलता के कीर्तिमान बना रहीं थी तो दूसरी ओर फिल्मों का प्रारंभ और मध्यांतर में दिखाये जाने वाले सरकारी विज्ञापन किसानों की खुशहाली के किस्से बयान कर रहे थे, देश की तरक्की की कहानियां सुना रहे थे। इससे आत्मविभोर हुए दर्शक की जेब तराशने के लिये तुरंत डालडा, चायपत्ती और साबुन वाले विज्ञापन हाजिर हो जाते थे। फिल्मी पत्रिकाओं की आड़ में भी यही धंधा चलता था।

भ्रम का यह कारोबार बहुत दूर तक नहीं चला। आम आदमी को कल्पनालोक और वस्तुस्थिति का अंतर समझ में आया तो गुस्सा बढ़ने लगा। बाजार ने इस गुस्से को भी अपने पक्ष में भुनाया और "ऐंग्री यंग मैन" अमिताभ बच्चन का अवतार हुआ। सिने पत्रिकाओं ने उन्हें सर आंखों पर बिठा लिया। दर्शकों की रूमानी जरूरतों को पूरा करने के लिये राजेश खन्ना और शशि कपूर जैसे सितारे तो राज कपूर जैसे शोमैन पहले से ही मौजूद थे।

"समान्तर सिनेमा" के नाम पर फिल्मों को उद्देश्यपूर्ण बनाने का एक दौर आया। साथ ही "यथार्थ" दिखाने के नाम पर अनेक वर्जनाओं को तोड़ने की भी कोशिश हुई। समाज के, खासतौर पर हिन्दू समाज के विद्रूप को उघाड़ने का साहस किया गया। अंधविश्वास, आस्था और सामाजिक कुरीतियों पर तीखे प्रहार किये गये। नारी का उन्मुक्त चित्रण और नायक द्वारा पिछली पीढ़ी के मूल्यों और मान्यताओं पर चोट समान्तर सिनेमा की पहचान बन गये।

ध्यान में आने लगा कि कलाकारों, लेखकों, पत्रकारों और फिल्म निर्देशकों का एक खास गठजोड़ दर्शकों को एक "विशिष्ट राजनैतिक दिशा" की ओर ले जाने का प्रयास कर रहा है। गांधी के देश में हिंसा को एक मूल्य के रूप में स्थापित करने का यह प्रयास था। यह प्रयास समग्र रूप में तो सफल नहीं हो सका किन्तु पढ़े–लिखे युवाओं के एक वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट करने में अवश्य कामयाब रहा। सामंतवादी शोषण ने एक "नक्सलबाड़ी" को जन्म दिया तो जनसंचार के इस सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम ने सैकड़ों "नक्सलबाड़ियों" के लिये आधारभूमि तैयार की।

जिन्हें आधार बना कर यह फिल्में बनी, वे उपन्यास, उनकी बांधे रखने वाली पटकथा, अनुपम फिल्मांकन और बेजोड़ अभिनय ने इन फिल्मों को कालजयी बना दिया। हालांकि यह भी एक तथ्य है कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों और गुणवत्ता के कारण यह फिल्में देश–विदेश में तमाम पुरस्कार बटोरती रहीं किन्तु बॉक्स ऑफिस पर सफलता इनमें से गिनी–चुनी फिल्मों को ही मिल सकी। आम आदमी को तो गब्बर सिंह को पीटता, मुहल्ले के गुण्डों को ललकारता और नेताओं को दुतकारता नायक ही लुभाता रहा।

भारत में वैश्वीकरण के प्रवेश के साथ ही सिनेमा बाजार का प्रतिनिधि बन गया। सिने पत्रकारिता कहीं पीछे छूट गयी और मुख्यधारा की पत्रकारिता सिनेमा के साथ कदमताल करने लगी। 'उद्देश्यपूर्ण सिनेमा' के कंगूरे ढहने लगे। नायक–नायिकाएं "सेलेब्रिटी" बन गये और उपभोक्तावाद को सींचने लगे। मुख्यधारा का मीडिया दो दशक पहले जिन फिल्मी खबरों को फूहड़ और अनावश्यक मानता था, अब हर दिन अपने पन्ने उनकी प्रशस्ति में रंग रहा है, उनके शयनकक्ष के किस्से रस लेकर पाठकों तक पहुंचा रहा है और राष्ट्रीय समस्याओं के लिये निर्धारित स्थान को अभिनेताओं व अभिनेत्रियों की नोंक–झोंक और इश्क–मुहब्बत के किस्सों पर कुर्बान कर रहा है। मुंबइया हिन्दी सिनेमा ही नहीं बल्कि तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़ आदि भारतीय भाषाओं का सिनेमा भी इसी रास्ते पर चल रहा है। भोजपुरी, गढ़वाली आदि क्षेत्रीय बोलियों में बनने वाली फिल्में भी प्रायः इनका अनुकरण करती दिखती हैं।

शताब्दी पूरी करने का यह अवसर सिंहावलोकन का भी अवसर है। भारतीय सिनेमा के सामने आने वाले दशकों का एक चित्र रखा जाये, यह बाहर से नहीं हो सकता। सिनेमा उद्योग को इसके लिये स्वयं ही पहल करनी होगी, लेकिन सिने पत्रकारिता में अवश्य वह शक्ति है कि वह सिनेमा उद्योग को सकारात्मक दिशा में बढ़ने की ओर प्रेरित कर सके। समान्तर सिनेमा के अगले चरण को क्या अधिक मानवीय, अधिक रचनात्मक और अधिक संवेदनशील बनाया जा सकेगा? शताब्दी वर्ष के अवसर को यदि इस दिशा में कुछ कदम भी आगे ले जाने में सफलता मिल सकी तो निश्चित ही आने वाले दशक में हम अपने को सार्थक सिनेमा के युग में पायेंगे।

भवदीय
संपादक

बदलते स्वरूप में सिनेमा व उसकी पत्रकारिता

सामाजिक घटनाक्रमों के यथार्थ स्वरूप को चलचित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करने की विधा सिनेमा है। समय के साथ–साथ इसके स्वरूप में भी परिवर्तन होते रहे हैं। कल तक जो सिनेमा पारिवारिक विघटन, भूख, गरीबी, बेरोजगारी, विपन्नता, जातिवाद, सामंतवाद एवं राजनीति की सड़ी–गली व्यवस्था को चलचित्रों के माध्यम से पर्दे पर प्रदर्शित करता था, वही सिनेमा आज वैश्वीकरण से प्रभावित होकर नग्नता, फूहड़ता आदि को पर्दे पर दिखा रहा है। सिनेमा में आए इस परिवर्तन को भारतीय मीडिया ने भी आत्मसात कर लिया है। कल तक सिनेमा की रिपोर्टिंग करने वाला पत्रकार सिनेमा के उन पहलुओं को उभारता था, जिससे वास्तव में पाठक या दर्शक अनभिज्ञ थे, किन्तु वर्तमान में बाजारवाद के बढ़ते प्रभाव ने पत्रकारिता के उस भाव को बाजार में बेच दिया है। इसका प्रभाव फिल्मों के प्रदर्शित होने से पूर्व मीडिया द्वारा उस पर होने वाली चर्चाओं और उसे दिये गये रेटिंग प्वांइट्स में साफतौर पर नजर आता है।

अमल कुमार श्रीवास्तव

सिने जगत आज हर युवा वर्ग की पसन्द है। इसलिए सिर्फ फिल्में ही नहीं बल्कि फिल्मी हस्तियां और उनसे जुड़ी खबरों को भी लोग वर्तमान दौर में काफी रूचि से पढ़ते हैं। इसके पीछे एक कारण और भी प्रतीत होता है कि भाग–दौड़ की जिन्दगी में जहां हर व्यक्ति तनावपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है, वहां उसे कुछ ऐसे साधन की चाह होती है जो उसे इन सब से थोड़ा दूर ले जा सके। आम आदमी को क्षणिक सुख प्रदान करने के लिए मीडिया द्वारा निभायी गई यह भूमिका सराहनीय कही जा सकती है, परंतु आज उसका स्तर जितना गिर गया है, वह सुख प्रदान करने से हट कर मनुष्य की वासनालोलुपता का व्यवसाय करने तक पहुंच गया है।

बात अगर फिल्मों की रिपोर्टिंग की करें तो जितना पुराना भारतीय फिल्म का इतिहास है उतना ही पुराना इतिहास फिल्मों की रिपोर्टिंग का भी है। 1932 में जब पहली सवाक फिल्म 'आलमआरा' को पर्दे पर प्रदर्शित किया गया तो उस समय पर्दे पर बोलते व चलते लोगों को देखने के लिए काफी भीड़ जुट जाती थी। धीरे–धीरे लोगों के बीच फिल्मों को लेकर चर्चाओं का दौर शुरू हो गया। कोई कहता कि यह सब चित्र नहीं जादू है, तो किसी के विचार से यह सब पर्दे के पीछे बैठा जादूगर करता है। फिल्मों से जुड़े ऐसे कई सवालों के प्रश्न लोग स्वयं ही उठाते और स्वयं ही इन प्रश्नों का हल निकाल लेते थे, किन्तु कोई भी व्यक्ति पूर्णतया संतुष्ट नहीं हो पाता था। इन सभी उठते प्रश्नों के महाजाल और फिल्मों के प्रति समाज में व्याप्त हो रही भ्रामक जानकारियों को देखते हुए श्री लेखराम के दिमाग में आया कि यदि लोगों के मस्तिष्क में उठ रहे सवालों का जवाब उन्हें पत्रिका के माध्यम से दिया जाये तो यह पत्रिका काफी लोकप्रिय होगी। इस विचार से उन्होंने सन 1932 में 'रंगभूमि' नाम से एक साप्ताहिक फिल्मी पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। पत्रिका बाजार में आते ही लोगों ने उसे हाथों–हाथ ले लिया। चार सालों तक बाजार में अन्य कोई भी फिल्मी पत्रिका का प्रकाशन न होने के कारण 'रंगभूमि' ने अपना एक अच्छा–खासा पाठक वर्ग तैयार कर लिया, लेकिन बाजार में जब किसी वस्तु की मांग बढ़ने लगती है तो यह बाजार की नियति है कि वहां प्रतिस्पर्धी खड़े होने शुरू हो जाते हैं। 'रंगभूमि' की बढ़ती लोकप्रियता को देख 1936 में ऋषभ चरण जैन ने 'चित्रपट' नामक फिल्मी पत्रिका प्रकाशित की। बाजार में प्रतिस्पर्धा की दौड़ आरम्भ हो गई। फिल्मी खबर पढ़ने वाले पाठकों को दोनों ही पत्रिकाओं का बेसब्री से इंतजार रहता था। यह पत्रिकाएं फिल्मों के साथ ही साथ तात्कालिक समाज में चल रहे घटनाक्रमों को भी अपने पाठकों के समक्ष इस प्रकार से परोसती थी कि पाठक वर्ग को इससे ऊबाऊपन महसूस न हो।

1947 में देश आजाद हुआ, जिसका प्रभाव आम जनमानस के साथ–साथ फिल्मों पर भी पड़ा। आजादी के पूर्व फिल्म निर्माण का एक बड़ा केन्द्र लाहौर था, इस कारण बंटवारे के समय सिने जगत से जुड़े कलाकार, निर्माता, निर्देशक व अन्य सभी इधर–उधर हो गए। इस कारण एक ओर जहां यह दोनों पत्रिकाएं प्रभावित हुईं, वहीं दूसरी

ओर सिने जगत की पत्रकारिता करने वाले लोग भी बिखर गये। हालांकि दोनों ही पत्रिकाओं का अंक निकलता तो रहा लेकिन इनमें अब वो पहले जैसी बात नहीं रह गई और धीरे–धीरे इन दोनों पत्रिकाओं का सूर्य अस्त हो गया। 1947 में 'चित्रपट' के संपादक रहे श्री संतपाल पुरोहित ने उससे अलग हो अपनी स्वयं की फिल्मी पत्रिका 'युगछाया' निकाली। यह भी आर्थिक अभाव के कारण लंबे समय तक प्रकाशित नहीं हो सकी। इसके बंद होने के बाद दिल्ली से प्रकाशक बृजमोहन ने 'फिल्मी चित्र' नाम की एक पत्रिका निकाली, लेकिन फिल्मी कहानियों के साथ–साथ इसमें राजनीतिक खबरें होने के कारण यह पाठक वर्ग द्वारा नापसंद की जाने लगी और इसका भी प्रकाशन जल्द ही बंद हो गया। इसका एक सीधा तात्पर्य यह भी है कि तात्कालिक समय का पाठक वर्ग भी फिल्मों की पत्रिका में सिर्फ फिल्मों की ही खबर चाहता था न कि अन्य खबर। इसके बाद फिल्मों से जुड़े विषय पर कई और पत्रिकाएं जैसे बच्चन श्रीवास्तव की 'कल्पना', ख्वाजा अहमद अब्बास की 'सरगम', ए. पी. बजाज की 'मायापुरी' आदि प्रकाशित हुई। इनमें से कुछ पत्रिकाओं का प्रकाशन अभी भी जारी है, जैसे 'मायापुरी'। 60 के दशक में आने वाली पत्रिकाओं में पाठक द्वारा रूचि लेने के पीछे एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि उस समय की पत्रिकाओं में सामग्री अच्छी होने के साथ–साथ वे घर में परिवार के सदस्यों के बीच पढ़ने योग्य होती थी, लेकिन जैसे–जैसे समय के साथ समाज में परिवर्तन होता गया, वैसे–वैसे इन पत्रिकाओं के कलेवर और सामग्री में भी परिवर्तन होता गया। परिवर्तन सिर्फ यहीं तक सीमित नहीं रहा बल्कि पाठकों की सोच में भी अन्तर आया। तब से अब तक का सफर तय करने वाली 'मायापुरी' में काफी परिवर्तन हुए। प्रतिस्पर्धा की दौड़ कहें या बाजार का प्रभाव, वर्तमान में 'मायापुरी' के भी मुखपृष्ठ पर अर्द्धनग्न हीरोइनों के चित्र छापे जाने लगे हैं।

पत्रिकाओं के बाद फिल्मी खबरों का दौर अखबारों में भी धीरे–धीरे शुरू होने लगा। 70 के दशक में जब अमिताभ बच्चन के यंग एंग्रीमैन का फ्लू पूरे देश में फैला, तब फिल्मों की खबरें अखबारों की सुर्खियां बनने लगी। सिने जगत के खास समाचारों को अखबारों के मुखपृष्ठ पर प्रमुखता के साथ छापा जाने लगा। तात्कालिक समय में अखबारों के पृष्ठ–संख्या कम होने के बावजूद भी सिने जगत की खबरों को छापा जाता था। धीरे–धीरे यह प्रक्रिया बढ़ती रही और एक ऐसा वक्त भी आ गया जब समाचार पत्र के साथ हर सप्ताह फिल्मों पर चार रंगीन पृष्ठ फिल्मी खबरों के लिये निकाले जाने लगे। फिल्मी खबरों के लिए समाचार पत्रों में स्थान धीरे–धीरे कुछ इस प्रकार से बढ़ा कि दैनिक भास्कर ने 1997 से 'नवरंग' नाम से चार रंगीन पृष्ठ सिने जगत से जुड़ी खबरों के लिए छापने शुरू कर दिये। इसके अतिरिक्त दैनिक जागरण ने 'तरंग', लोकमत ने 'आकर्षण', नई दुनिया ने 'रविवारीय', राजस्थान पत्रिका ने 'बॉलीवुड', दैनिक ट्रिब्यून ने 'मनोरंजन', नाम से फिल्म परिशिष्ट निकाले। आज स्थिति यह हो गई है कि ऐश्वर्य राय बच्चन को बच्चा हो रहा है, तो भी खबर उनके फोटों के साथ मुखपृष्ठ पर छपती है।

1960 से 1970 के बीच जब बंगाल में नक्सलवाद की तेज आंधी चल रही थी, ऐसे में भी सत्यजीत रे जैसे लोग सृजनात्मक वयस्कता की ओर बढ़ रहे थे। उनमें नई समझ और सामाजिक विकलता भी बढ़ रही थी और इसका पूरा प्रयोग तात्कालिक समय में आयी उनकी फिल्मों में दिखाई देता है। उस समय प्रदर्शित होने वाली फिल्में सामाजिक समस्याओं को उठाते हुए, उन्हें सुलझाने का प्रयास करते हुए आपसी सम्बन्ध को मजबूत करने के लिए प्रेरित करती थी। किन्तु इसके विपरीत पिछले एक दशक में आने वाली अधिकतर फिल्में केवल फूहड़पन, अश्लीलता व नग्न प्रदर्शन परोसने के बावजूद और अच्छी पटकथा न होने पर भी सिर्फ संचार माध्यमों के द्वारा जोर–शोर से प्रचार–प्रसार कर प्रदर्शित की जा रही है। पूर्व में सिने जगत की रिपोर्टिंग करने वाला पत्रकार फिल्मों की पटकथा का जो चित्रण अपनी लेखनी के माध्यम से करता था, वही चित्रण लोगों को फिल्मों में भी दिखाई देता था। किन्तु आज का मीडिया इसके ठीक विपरीत हवाओं में बह रहा है। आज मीडिया द्वारा जिस फिल्म को अच्छी रेटिंग प्वाइंट के साथ दर्शकों व पाठकों के बीच लाया जाता है, वास्तविकता उसके विपरीत होती है। कहीं–कहीं तो अलग–अलग मीडिया प्रकाशनों द्वारा दिये जाने वाले इस रेटिंग प्वाइंट में भी इतनी विभिन्नता होती है कि पाठक व दर्शक यह स्वयं तय नहीं कर पाते की वास्तव में उस फिल्म को देखना चाहिए अथवा नहीं।

मीडिया को समाज का आईना कहते हैं, इसलिए वह जो कुछ दिखाता है आम जन उसी आधार पर अपनी सोच को बनाता है। उदाहरणस्वरूप, अभी हाल ही में प्रदर्शित चर्चित अभिनेता शाहरूख की फिल्म 'रा.वन' को मीडिया द्वारा मिलने वाले रेटिंग प्वाइंट की बात करें तो दैनिक जागरण ने इसे जहां 5 प्वांइट में से 4 प्वाइंट दिये वहीं हिन्दुस्तान टॉइम्स ने 2 प्वाइंट, टाइम्स ऑफ इंडिया ने 3.5, इंडिया टुडे पत्रिका ने 3.5, दैनिक हिन्दी समाचार पत्र इंडियन एक्सप्रेस ने 2 प्वाइंट, इकनॉमिक टाइम्स समाचार पत्र ने 3.5, दैनिक भास्कर ने 3 प्वाइंट, न्यूज चैनल आईबीएन लाइव ने 2.5, जी न्यूज ने 2 प्वाइंट, दैनिक हिन्दी समाचार पत्र डीएनए ने 3 प्वाइंट दिये हैं। इस प्रकार से यहां यह स्पष्ट रूप से देखने को मिल रहा है कि दिये गये रेटिंग प्वाइटों में काफी अन्तर है। अब अगर बात इस फिल्म को लेकर जनता के विचारों की करें तो दर्शकों द्वारा इसे सिरे से नकार दिया गया। दर्शकों ने इसे 'टाइमपास' और 'बकवास' जैसे शब्दों से सम्बोधित किया, बावजूद इसके कि कई न्यूज चैनलों व समाचार पत्रों ने इसे अच्छे रेटिंग प्वाइंट्स दिये। मीडिया द्वारा दिया जाना वाला यह रेटिंग प्वाइंट किस आधार पर निर्धारित होता है, यह तो इन मीडिया संस्थानों के मालिक ही बता सकते हैं।

वर्तमान समय में बाजार से प्रभावित मीडिया संस्थानों की स्थिति कुछ ऐसी है कि प्रतिस्पर्धा में शीर्ष पर पहुंचने की ललक ने इन्हें पथभ्रष्ट कर दिया है। पैसे दे कर अपनी बात कहलवाना आज यहां बहुत आसान हो गया है। इस बात से किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता कि वास्तव में तथ्य व सत्य क्या है? और इसके प्रकाशित हो जाने के पश्चात इसके क्या परिणाम होंगे? ऐसी स्थिति में चौथे स्तम्भ पर से भी आमजन का विश्वास धीरे–धीरे कम होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में इन फिल्मों का समाज पर जो प्रभाव पड़ रहा है, वह सही नहीं है। अतः इस व्यवस्था में सुधार की बहुत आवश्यकता है। ■

चमकता रजतपटल, चुकता स्मृतिपटल

जयप्रकाश सिंह

भारतीय रजतपटल शत शरद ऋतुओं का द्रष्टा बनने जा रहा है। वह शतायु होने की दहलीज पर खड़ा है। आगामी 12–15 महीनों में कई तथ्य और तिथियां आपकी नजरों के सामने से बहुत बार गुजरेंगी। मसलन प्रथम भारतीय कहानी आधारित फिल्म (फीचर फिल्म) 'राजा हरिश्चंद्र' है। इसके निर्माता धुंडिराज गोविंद फाल्के उपाख्य दादासाहब फाल्के थे। इस फिल्म की शूटिंग की शुरुआत 21 अक्टूबर 1912 से प्रारम्भ हुई। 21 अप्रैल 1913 को मुम्बई के ओलम्पिया हॉल में इस फिल्म का पहला शो हुआ। यह शो पत्रकारों और बुद्धिजीवियों तक सीमित था। बाद में 3 मई 1913 को यह फिल्म जनसाधारण के समक्ष प्रदर्शित की गयी। इन तमाम आंकड़ों को परोसने की प्रक्रिया में एक तथ्य को छुपाए जाने की प्रबल संभावना भी है। संभवतः पंथनिरपेक्षता की काली छाया और बाजार की कठोर काया का डर आंकड़ों के कारोबारियों को उस तथ्य का जिक्र करने से रोकेगा, जिसने भारतीय सिनेमा के पितामह को फिल्म निर्माण के लिए अपनी भूमि और भाषा अपनाने की ललक पैदा की। वह तथ्य यह है कि ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित मतांतरण अभियान से उपजे आक्रोश ने दादा साहब फाल्के को सिनेमा का भारतीय शिल्प गढ़ने के लिए प्रेरित किया था।

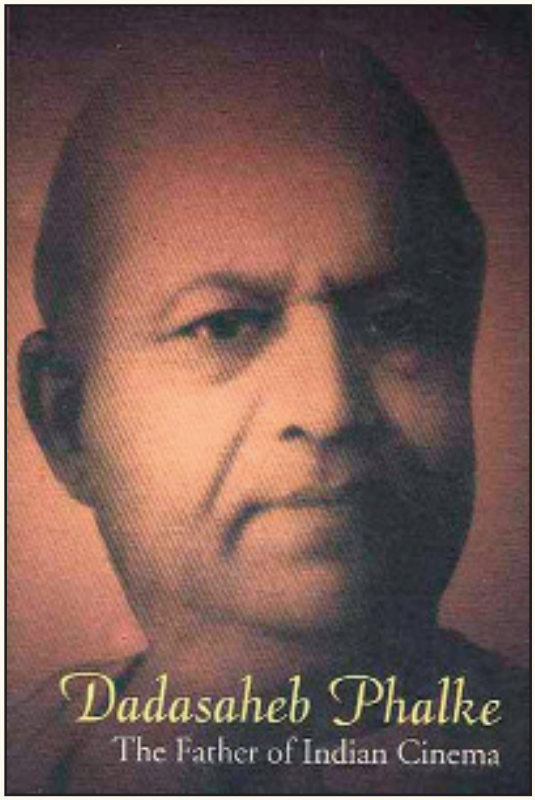

उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिशनरियों द्वारा सिनेमा के जरिए पश्चिमी आदर्शों को भारत पर थोपने की प्रक्रिया का प्रतिरोध करने के लिए दादा साहब ने भारतीय सिनेमा स्थापित करने के लिए प्रयास प्रारम्भ किए। यह एक स्थापित तथ्य है कि औपनिवेशिक शासनकाल में मतांतरण की प्रक्रिया को राज्याश्रय प्राप्त था। हिन्दू धर्मावलम्बियों को मतांतरित करने के लिए आर्थिक प्रलोभन और राजनीतिक प्रभुसत्ता दोनों का प्रयोग ईसाई मिशनरियां कर रही थी। भारतीयों को मतांतरण हेतु मानसिक स्तर पर तैयार करने के लिए साहित्य वितरण जैसे पारंपरिक तरीकों के साथ सिनेमा जैसे नवीनतम माध्यमों का भी प्रयोग किया जा रहा था। इस कड़ी में वर्ष 1910 में भारत के विभिन्न हिस्सों में यीशु मसीह के जीवन पर आधारित एक फिल्म 'द लाइफ ऑफ क्राइस्ट' दिखायी गयी। इसी फिल्म ने 39 वर्षीय दादा साहब फाल्के को समानांतर भारतीय सिनेमा को स्थापित करने की प्रेरणा दी। विदेशी भाव और भाषा में निर्मित इस फिल्म को देखने के बाद दादा साहब फाल्के ने यह महसूस किया कि ईसाई मिशनरियां सिनेमाई प्रभाव का उपयोग भारतीय संस्कृति के उच्छेदन के लिए कर रहीं है। उन्हें यह तथ्य समझने में भी समय नहीं लगा कि सिनेमा मनोरंजन तक सीमित नहीं है, इसमें सांस्कृतिक संरक्षण अथवा सांस्कृतिक उच्छेदन की असीम संभावनाए भी निहित हैं। उनकी दूरदृष्टि ने दीवार पर लिखी उस इबारत को भी पढ़ लिया था कि सिनेमा को भारतीय भाषा, भाव और भूमि से जोड़कर सांस्कृतिक नवचैतन्य के लिए संभावनाएं सृजित की जा सकती हैं।

उन्होंने अपनी पहली फिल्म के लिए जिस कथावस्तु का चयन किया और उसके निर्माण के लिए जिस तरह से संघर्ष किया, उससे भी यह स्पष्ट होता है कि उनके लिए सिनेमा सांस्कृतिक संरक्षण का उपकरण था। उन्होंने किसी ऐसे भारतीय आदर्श पुरुष पर फिल्म बनाने की ठानी, जिसका भारतीय लोकमानस पर गहरा प्रभाव हो। इसके लिए उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति का लम्बे अरसे तक अध्ययन और अवलोकन किया। अंततः किसी आदर्श भारतीय पात्र की उनकी खोज महाराज हरिश्चंद्र पर समाप्त हुई। महाराज हरिश्चंद्र के चरित्र में निहित उदात्त नैतिक मूल्यों की स्मृति अब भी भारतीय लोकमानस में बनी हुई थी। कई नाटक कम्पनियां हरिश्चंद्र नाटक का मंचन करती थी और एक आम भारतीय में इस नाटक को लेकर जबरदस्त उत्सुकता भी थी। महात्मा गांधी ने इस बात को स्वीकार किया है कि 'राजा हरिश्चंद्र' नाटक ने उनके जीवन को बहुत प्रभावित किया है। यह स्वीकृति इस बात को साबित करती है कि सम्पूर्ण भारत में राजा हरिश्चंद्र नाटक अत्यंत लोकप्रिय था। दादासाहब फाल्के द्वारा राजा हरिश्चंद्र पर फिल्म निर्माण का निर्णय उनकी भारतीय सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना की बेहतरीन समझ का संकेतक है। दरसअसल, रजतपटल को भारतीय स्मृतिपटल से जोड़ने की ललक ने ही दादासाहब फाल्के को महाराज हरिश्चंद्र पर फिल्म निर्माण करने के लिए प्रेरित किया।

फिल्म निर्माण की बारीकियों को समझने के लिए 1 फरवरी 1912 को उन्होंने लंदन के लिए प्रस्थान किया। लंदन जाने के लिए उन्होंने अपनी बीमा पॉलिसी और पत्नी के गहनों को गिरवी रखकर पैसे जुटाए थे। जाहिर है यह संघर्ष व्यावसायिक नहीं बल्कि सांस्कृतिक संरक्षण के लिए था। व्यावसायिक इसलिए नहीं क्योंकि उस समय

भारत जैसे देश में सिनेमा के जरिए व्यावसायिक हित साधना संभव नहीं था। फिल्म बनाना एक दुष्कर कार्य था और सिनेमा देखना एक अधम काम। सिनेमा को उस समय इतनी हीनदृष्टि से देखा जाता था कि दादा साहब फाल्के को राजा हरिश्चंद्र के महिला चरित्रों के लिए पुरुष कलाकारों का चयन करना पड़ा था, क्योंकि उस समय आम भद्र महिला तो दूर, वेश्याएं भी सिनेमा में भूमिका निभाने के लिए तैयार नहीं थीं। तत्कालीन समाज में फिल्म के शौकीनों को भी तौहीन की नजर से देखा जाता था। फिल्म देखने के शौकीन लोगों को 'चवन्नी छाप' आदमी कहकर बुलाया जाता था क्योंकि उस समय मुम्बई के नावेल्टी होटल में देशी दर्शकों के लिए टिकट का मूल्य चार आना निर्धारित किया गया था। ऐसे माहौल में फिल्म निर्माण के लिए पहल कोई सांस्कृतिक व्यक्ति ही कर सकता है, व्यावसायिक व्यक्ति नहीं।

दादा साहब फाल्के द्वारा 'राजा हरिश्चंद्र' के रूप में रोपा गया भारतीय सिनेमा का वह नन्हा पौधा आज विशाल वट वृक्ष बन गया है। एक आंकड़े के मुताबिक भारत में 1.3 करोड़ लोग प्रतिदिन बॉलीवुड की फीचर फिल्मों को विभिन्न माध्यमों के जरिए देखते हैं। बॉलीवुड में औसतन 1000 फिल्में सालाना बनती हैं। जबकि हॉलीवुड में यह आंकड़ा 600 फिल्मों तक सीमित है। इस वटवृक्ष से तमिल, तेलगु, बंगाली, भोजपुरी फिल्मों की नई जड़ें निकल आयी हैं। बाहर से देखने पर यह वृक्ष लहलहा रहा है। प्रभाव में वृद्धि हुई है। हमारे सुख, दुख, स्वप्न, शैली और शब्द सब फिल्मों की स्क्रिप्ट एवं धुनों के जरिए अभिव्यक्त हो रहे हैं, लेकिन क्या प्रभाववृद्धि और व्यावसायिक सफलता रजतपटल के मूल्यांकन के एकमेव आधार बन सकते हैं। भारतीय संदर्भों में ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि दादा साहब फाल्के ने रजतपटल की शुरुआत सामाजिक–सांस्कृतिक संरक्षण और सामूहिक स्मृतिपटल के पोषण के लिए की थी।

आज की स्थिति बिल्कुल उल्टी है। रजतपटल भारतीय स्मृतिपटल को पोषित करने के बजाय उसकी जड़ों में मट्ठा डाल रहा है, उसको खरोचकर लहूलुहान कर रहा है। आज भारतीय रजतपटल के पास पैसा और तकनीक दोनों हैं लेकिन भारतीयता को पोषित करने वाली दृष्टि नहीं है। उसकी अंतर्वस्तु या तो बाजारु–भारतीय है अथवा विदेशी। भारतीय समाज और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य की पहचान और अभिव्यक्ति का कोई भी प्रयास रजतपटल के चमकीले लोग नहीं कर रहे हैं। अभिव्यक्ति की बात तो दूर भारतीय मूल्यों को उपहास की विषयवस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। चाणक्य जैसे धारावाहिक के निर्माता एवं रजतपटल की दुनिया को भारतीयता की अभिव्यक्ति देने में सक्रिय कुछ गिने चुने लोगों में से एक डॉ. चंद्रप्रकाश द्विवेदी आज की स्थितियों का सटीक आकलन करते हुए कहते हैं कि– ''भारतीय सिनेमा के जनक दादा साहब फाल्के के पास उस समय कई विषय रहे होंगे, लेकिन उन्होंने अपनी फिल्म की कथा अतीत से चुनी। मतलब यह नहीं कि वे अतीतजीवी थे। उन्हें भारत के सामने एक आदर्श रखना था। उनका उद्देश्य था कि इस असाधारण उपकरण सिनेमा का इस्तेमाल हम समाज के लिए करें। आजादी और उससे पहले जो फिल्में हमारे यहां बनी उसमें भारत की जड़ें थी। भारतीय आत्मा थी। भारत के सवाल थे। उन सवालों के उत्तर देने की कोशिशें भी उनमें थी। पांचवें–छठे दशक का सिनेमा भारतीय तत्वों से भरा था। परन्तु जैसे–जैसे सिनेमा का विकास होता गया, बाजार का दबाव बढ़ता गया। हमारी कहानियां भारत से दूर होती गयीं। अब स्थिति ऐसी हो गयी है कि भारत के पात्र होते हैं और पीछे विदेशी भीड़ घूम रही होती है। हमारी गलियां भी अमृतसर, राजस्थान, यूपी और बिहार की नहीं रह गयीं, बल्कि अब हम गलियां भी न्यूयार्क, लंदन, शंघाई, स्पेन और कनाडा जैसे देशों की ढूंढ रहे हैं। ''(झंकार ,दैनिक जागरण, 5 फरवरी 2012 , पृष्ठ 4)

वर्तमान भारतीय रजतपटल में भारत और भारतीयता दोनों सिरे से गायब हैं। आज के रजतपटल में गोवध की समस्या नहीं है, मैली होती गंगा नहीं है, किसान आत्महत्या नहीं है, 90 करोड़ निर्धन नहीं हैं, बिजली से महरूम और ढिबरी से टिमटिमाते 10 करोड़ घर नहीं है, गांव की पगडंडियां नहीं हैं, हाथरस, भदोही, मुरादाबाद के हस्तशिल्पियों की दारुण दशा नहीं है। भारतीय स्मृतिपटल में रची–बसी छवियां नहीं हैं, मुहावरे नहीं हैं। वह तो राजपथ, फ्लाईओवर, शॉपिंगमाल्स से जगमगा रहा है। विदेशों में पिकनिक मना रहा है, बास्टर्ड कहने में इतरा रहा है। उद्योगपतियों के कौशल को मसाला लगाकर दिखा रहा है। डॉ चंद्रप्रकाश द्विवेदी इस संदर्भ में कहते हैं कि – ''पिछले 63 सालों में भारत के विभाजन पर कितनी फिल्में बनी? उंगलियों पर गिन सकते हैं। 1984 के दंगों पर कितनी फिल्में हैं? कश्मीर का सामाजिक और राजनीतिक मुद्दा हमारी फिल्मों का विषय नहीं हैं। आतंकवाद और नक्सलवाद को लेकर, भ्रष्टाचार को

लेकर, आरक्षण को लेकर, रामजन्म भूमि विवाद को लेकर फिल्में नहीं बनी हैं। इतने सारे विषय देश में मौजूद हैं, परंतु हमारे फिल्मकारों को उनसे कोई सरोकार नहीं है।'' (झंकार, दैनिक जागरण, 5 फरवरी 2012 , पृष्ठ 4)

सर्वाधिक पीड़ादायी दृश्य यह है कि कई पीढ़ियों से लोकस्मृति में घर कर चुकी छवियां और शब्द रजतपटल पर जगह नहीं पा रहे हैं। 60 और 70 के दशक में फिल्मों के आधिकांश गाने लोकधुनों पर आधारित होते थे। आज भी लोग उन्हें बड़े आत्मीय भाव से गुनगुनाते हैं। ''नैन लड़ जईहैं तो मनवा में खटक होईबै करी, चलत मुसाफिर मोह लियो रे पिंजड़े वाली मुनिया, दुख भरे दिन बीते रे भइया अब सुख आयो रे'' जैसी लोकधुनें अब रजतपटल से लुप्तप्राय हो गयी हैं। भारतीय नाटकों की परंपरा सुखांत रही है, अच्छाई के पथ पर चलने वाले नायक की विजय सुनिश्चित होती है लेकिन अब रजतपटल पर पश्चिमी दुखांत परंपरा हावी हो रही है। अच्छाई और बुराई की रेखाएं मिट रहीं हैं।

सोनचिरैया संस्था की संस्थापक और प्रख्यात लोकगायिका मालिनी अवस्थी रजतपटल पर लोकधुनों के गायब होने से काफी आहत हैं। वह रजतपटल में लोक के लिए सिमटते स्थान पर चिंता जाहिर करते हुए कहती हैं कि –''स्थिति यह है कि सिर्फ गायन में ही नहीं, लोक के सभी अंग–उपांग में क्षति है। लोक कलाकार के अस्तित्व से सीधे जुड़ा हुआ है लोक कलाओं का अस्तित्व। नक्कारा, ताशा, मृदंग, झांझ, सींगी, करताल और हुडुक जैसे वाद्य तभी तक सुरक्षित है, जब तक कि इनके कलाकार। इन कलाओं को बचाना है तो इन लोक कलाओं को बढ़ावा देना होगा। नई पीढ़ी को इस अनमोल थाती से जोड़ना है तो लोक कलाओं को अब स्कूली पाठ्यक्रम में शामिल करना होगा। यदि अपनी संस्कृति की पहचान बनाए रखनी है तो समाज को हर हाल में नई पीढ़ी को लोक–साक्षर बनाना ही होगा।

निश्चय ही, वर्ण साक्षरण और ई साक्षरता से कम जरुरी नहीं है लोक साक्षरता। लोक साक्षरता एक व्यापक शब्द है। इसका सम्बन्ध केवल गायन वादन से नहीं है। यह उस परंपरा से परिचय है जो भारतीय व्यक्तित्व को वैशिष्ट्य प्रदान करती है। इस परंपरा का उल्लेख किसी शास्त्रीय पोथी में नहीं है। इस परंपरा के प्राण भारतीयों के सामूहिक स्मृतिपटल में बसता है। इसी स्मृति पटल की बदौलत लाखों शब्द और छवियां समय के अवरोधों को पार करते हुए निरंतर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में प्रवाहित हो रही हैं। स्मृतिपटल का चुकना भारतीयों की सबसे बड़ी सांस्कृतिक पराजय होगी। सामूहिक स्मृति पटल को बचाने के लिए लोक साक्षरता आवश्यक है। यही सैकड़ों सालों की पराधीनता के कारण भारतीय भावभूमि पर जड़ जमा चुकी आत्महीनता की ग्रंथि को उखाड़ सकती है।

स्मृतिपटल और रजतपटल के बीच स्वस्थ संवाद स्थापित कर लोक साक्षरता को बढ़ाया जा सकता है, यह संवाद स्मृतिपटल के संरक्षण के लिए भी आवश्यक है। इसके लिए रजतपटल पर सांस्कृतिक समझ वाले लोगों की सक्रियता बढ़नी आवश्यक है। भारत में व्यवस्था परिवर्तन के आकांक्षी व्यक्तियों को भी रजतपटल को हल्के में लेने और उससे दूर रहने की प्रवृत्ति परिवर्तित करनी होगी। जो रजतपटल प्रतिदिन 1.3 करोड़ भारतीयों तक पहुंचता है, उन्हें हंसाने–रुलाने की क्षमता रखता है, युवावर्ग जिससे सर्वाधिक प्रभावित होता हो, उसको नजरंदाज कर व्यवस्था परिवर्तन की रूपरेखा कैसे तय की जा सकती है? क्या श्री रामजन्म भूमि आंदोलन की सफलता में श्री रामानंद सागर कृत रामायण के योगदान को एकदम से नकारा जा सकता है? रजतपटल पर सांस्कृतिक व्यक्तियों की सक्रियता समय की मांग है। सांस्कृतिक व्यक्तियों की सक्रियता रजतपटल पर स्मृतिपटल का प्रभाव और दबाव सृजित करेगी। यह प्रभाव और दबाव सांस्कृतिक सम्पन्नता और निरंतरता के लिए आवश्यक हैं।

भारतीय स्मृतिपटल को लहुलूहान करने में मात्र रजतपटल की अंतर्वस्तु और तकनीकी ही जिम्मेदार नहीं है। रजतपटल से सम्बंधित सूचना–प्रवाह भी भारतीय स्मृतिपटल की जड़ें खोद रही है। व्यावसायिक सिनेमा के अतिरिक्त बहुत कुछ सर्जनात्मक भी रजतपटल की दुनिया हो रहा है, लेकिन फिल्म की दुनिया में उसकी कोई रिपोर्टिंग नहीं होती। बिग बॉस को लेकर तो प्रिंट और मीडिया ने आ. समान अपने सिर पर उठा लिया था लेकिन लगभग एक दशक के शोध के बाद मार्च से प्रसारित होने वाले डॉ चंद्रप्रकाश द्विवेद्वी के धारावाहिक उपनिषद गंगा की चर्चा सूचना–संसार और फिल्म, धारावाहिक समीक्षा के कॉलम का हिस्सा नहीं बन सका। डॉक्यूमेंट्री की समीक्षा अब भी रजतपटल पत्रकारिता का हिस्सा नहीं बन सकी है, जबकि यह फिल्मों की अपेक्षा भारतीय भावभूमि और समस्याओं से अधिक जुडी है। रजतपटल की पत्रकारिता को साहित्य समीक्षा जैसा गांभीर्य देकर रजतपटल के भारतीयकरण की दिशा में प्रारम्भिक कदम बढ़ाया जा सकता है। ■

फिल्म पत्रकारिता की संभावनाएं बढ़ी हैं, गंभीरता घटी है– जयप्रकाश चौकसे

फिल्म पत्रकारिता में जयप्रकाश चौकसे एक जाना–माना नाम है। दैनिक भास्कर में प्रकाशित उनका स्तंभ 'परदे के पीछे' खासा लोकप्रिय है। चौकसे फिल्मों पर आज की भांति प्रमोशनल स्टोरी नहीं लिखते हैं, बल्कि फिल्मों के सामाजिक, राजनीतिक प्रभाव और फिल्मों के विकास–क्रम में आने वाले उतार–चढ़ावों पर पैनी कलम चलाते हैं। भारतीय फिल्म जगत के 100 वर्ष पूरे होने पर फिल्म पत्रकारिता में उनके अनुभवों और इसमें आए परिवर्तनों पर संवादसेतु ने उनसे लंबी बातचीत की। प्रस्तुत हैं उसके प्रमुख अंश :

पत्रकारिता के क्षेत्र में आपका आगमन कैसे हुआ?

1956 में जब मैं बीए प्रथम वर्ष का छात्र था और मध्य प्रदेश के एक छोटे से शहर बुरहानपुर में रहता था, मैंने कुछ मित्रों के साथ मिलकर संगम नामक 16 पृष्ठों का एक साप्ताहिक अखबार निकाला था। उस समय बुरहानपुर की जनसंख्या काफी कम हुआ करती थी और वहां अखबार भी मुंबई से मंगवाना पड़ता था। ऐसे समय में हमने अखबार निकाला और सफलतापूर्वक चलाया भी। हम स्वयं ही इसे प्रिंट कराते थे और घर–घर बांटते भी थे। बाद में हमें विज्ञापन भी मिलने लगे थे। यह अखबार हमने लगभग डेढ़ वर्ष तक चलाया। पत्रकारिता में मेरी यह रूचि आगे भी बनी रही और 1961 में जब मैं कॉलेज में व्याख्याता के पद पर नियुक्त हुआ, तब कॉलेज की पत्रिका का प्रभारी संपादक बना। 1966 में पहली बार माधवी में मेरा एक आलेख छपा। फिर इंदौर से प्रकाशित होने वाले नई दुनिया अखबार में मैं नियमित रूप से लिखने लगा। बाद में नई दुनिया का फिल्मों पर एक विशेषांक आया जिसमें 30 प्रतिशत आलेख मेरे ही थे। 1989 में जब दैनिक भास्कर का प्रकाशन शुरू हुआ तो मैं उसमें फिल्मों पर एक साप्ताहिक स्तंभ लिखने लगा। इसके बाद 1991 में भास्कर का एक साप्ताहिक फिल्म परिशिष्ट 'नवरंग' प्रारंभ हुआ। इसका मैंने तीन वर्षों तक संपादन किया। बाद में जब भास्कर भोपाल में स्थानांतरित हो गया तो भास्कर के मालिक सुधीर अग्रवाल जी ने मुझे दैनिक स्तंभ लिखने का आग्रह किया। तब से मैं 'परदे के पीछे' के नाम से यह स्तंभ लिख रहा हूं। यह स्तंभ काफी लोकप्रिय हुआ।

फिल्म पत्रकारिता की ओर आपका रूझान किस प्रकार बढ़ा?

फिल्मों में मेरी रुचि बचपन से ही थी। मेरे परिवार में मेरे पिता और मेरे तीनों बड़े भाई सभी फिल्में देखते थे और देखने के बाद घर पर फिल्मों के सामाजिक संदर्भों की चर्चा भी करते थे। फिल्मों का विषय हमारे यहां कभी भी टैबू नहीं रहा। उन दिनों मेरे पिता अंग्रेजी का फिल्मफेयर अखबार खरीदने के लिए तीन किलोमीटर दूर साइकिल से जाया करते थे। इसलिए बचपन से ही फिल्मों में रूचि रही और जब पत्रकारिता से जुड़ा तो स्वाभाविक रूप से फिल्मों पर लिखने लगा।

इस क्षेत्र में आपको किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा?

मुझे कभी किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं हुई। कठिनाई तो दूर की बात है, काफी सहयोग मिला। दैनिक भास्कर में मेरे स्तंभ के लिए सीधा निर्देश था कि उस स्पेस में विज्ञापन तक नहीं छापे जाएंगे। एक बार एक व्यापारिक संस्थान के व्यक्ति ने फिल्मों के बारे में कुछ अशोभनीय बात कही तो मैंने उसके खिलाफ आलेख लिख दिया। इस पर विज्ञापन विभाग वालों ने उसे रोकने की चेष्टा की परंतु सुधीर अग्रवाल जी ने इस पर सर्कुलर जारी कर दिया कि मेरे आलेख में कभी कोई संशोधन नहीं किया जाएगा। इसी प्रकार एक बार मैंने सिने अभिनेता अक्षय कुमार के खिलाफ एक आलेख लिख दिया था। हुआ यूं था कि अक्षय कुमार की फिल्में जब हिट हो गईं तो उन्होंने पुरानी फिल्मों, जिन्हें कम पैसे में लीं थीं, पर ध्यान देना बंद कर दिया और पूछे जाने पर कह देते थे कि जय माता दी, सब ठीक हो जाएगा। मैंने इस पर एक आलेख लिख दिया, जिस पर अक्षय कुमार काफी नाराज हो गए परंतु हमारे सुधीर अग्रवाल जी ने मेरा खुलकर साथ दिया और कहा कि कोई मुकदमा हो तो वे संभाल लेंगे।

भारतीय सिनेमा के 100 साल के सफर में सिने पत्रकारिता में आप क्या बदलाव देखते हैं?

भारतीय सिनेमा में काफी बदलाव आया है और साथ ही फिल्म पत्रकारिता में भी काफी बदलाव आया है। फिल्म पत्रकारिता में दो खेमे काफी साफ–साफ दिखने लगे हैं। उदाहरण के लिए, सूरज बड़जात्या की फिल्म 'विवाह' की क्षेत्रीय यानी कि हिंदी, गुजराती और मराठी के अखबारों ने काफी प्रशंसा की, परंतु मुंबई के अंग्रेजी के अखबारों ने उसकी बुराई की। इसका एक कारण यह था कि मुंबई के बड़े–बड़े अखबारों के मालिकों ने इवेंट मैनेजमेंट की कंपनियां भी खोल रखी हैं जिसमें बड़े–बड़े प्रोड्यूसर–डायरेक्टर आदि बड़ी रकम दिया करते हैं। इसलिए वे घटिया फिल्मों को भी अच्छी रेटिंग दे देते हैं। इस प्रकार देखा जाए तो आज देश में फिल्म पत्रकारिता दो भागों में बंटी हुई है। मुंबई के अंग्रेजी भाषा के पत्रकार और शेष भारत के पत्रकार।

पत्रकारिता किसकी? सिनेमा की या सेलेब्रिटी की? क्या फिल्मी पार्टियों, नायक–नायिकाओं के रोमांस से लेकर उनके बेडरूम के किस्से तक प्रचारित करना ही सिने पत्रकारिता है?

सिर्फ सेलेब्रिटी की हो रही है। यहां भी फिल्म पत्रकारिता के दोनों

रूप दिखते हैं। मुंबई की अंग्रेजी पत्रकारिता में केवल गॉसिप खबरें ही होती हैं परंतु क्षेत्रीय भाषाओं में फिल्मों का गंभीर विवेचन भी किया जाता है।

समाचार पत्रों के 'पेज थ्री' और फिल्मी पत्रिकाओं में 'न्यूडिटी' का जो दौर चल पड़ा है उसके पीछे क्या कारण है?

बात दरअसल यह है कि बीते वर्षों में जो आर्थिक उदारवाद आया है, उससे समाज में भी खुलेपन की एक लहर चल रही है। अभी एक सर्वेक्षण छपा है कि महानगरों में 41 प्रतिशत महिलाएं शराब पीती हैं। आप फिल्मों में जिन पोशाकों पर आपत्ति प्रकट करते हैं, उससे कहीं अधिक खुले पोशाक महानगरों की उच्च वर्ग की शादियों–पार्टियों में पहने जाते हैं। यह सब आर्थिक उदारवाद का प्रभाव है। आज एक ऐसा मध्यम वर्ग देश में विकसित हुआ है जिसके पास खरीदने की क्षमता बढ़ गई है। देखिये, बाजार हर युग में शक्तिशाली रहा है, लेकिन इस युग में पहली बार बाजार अपने खरीदार भी बनाने लगा है।

ऐसी स्थिति में कौन सी बात अधिक सही है – सिनेमा में वही दिखाया जाता है जो दर्शक देखना चाहता है, अथवा जो सिनेमा में दिखाया जाता है उसे दर्शक दोहराने की कोशिश करता है? क्या इसका कोई तीसरा कोण भी है?

देखिये, आज जो लोग फिल्में बना रहे हैं, वे पंचसितारा होटलों में बैठते हैं और वहां एयरकंडीशंड कमरों में बैठकर आकलन करते हैं कि भारत के लोगों को क्या पसंद है। ये लोग उन पांच अंधों की तरह हैं जो हाथी का विवरण बता रहे थे। फिल्मों में जो दिखता है वह भारत नहीं है। ये भारत की हॉलिवुड की नजरों से देखी गई मायानगरी का वर्णन है। वह समाज का वास्तविक प्रतिबिंब तो नहीं है परंतु उसमें कुछ झलक समाज की होती है। रही बात दूसरी कि समाज फिल्मों में दिखाई गई चीजों का अनुसरण करता है, तो यह भी आंशिक रूप से ही सच है। फैशन आदि के मामलों में तो यह सही है लेकिन जब बात अपराधों की आती है तो यह सही नहीं है। जब सीता का अपहरण हुआ था तब कोई फिल्में नहीं बनती थीं। इसलिए दर्शक द्वारा दोहराने की बात केवल फैशन तक ही सीमित है। एनआरआई महिलाएं जब फिल्में देखने जाती हैं तो अपने साथ ड्रेस डिजाइनर को भी ले जाती हैं कि उसमें दिखाई गई ड्रेस बनवानी है। इसलिए मेरा मानना है कि फैशन के मामले में तो समाज फिल्मों का अनुसरण करता है परंतु सामाजिक व्यवहार के मामले में नहीं करता।

क्या फिल्मों द्वारा महिला, परिवार और समाज की एक नकली छवि गढ़ी जा रही है? क्या मीडिया इस छवि को ढो रहा है? और अधिक स्वीकार्य बनाने की चेष्टा कर रहा है? इन परिवर्तनों के नकारात्मक प्रभाव पर चुप है?

यह सवाल दो हिस्सों में बंटा हुआ है। पहली बात तो मैं यह आपको बता दूं कि जैसा श्रेणीकरण हॉलीवुड की फिल्मों का है कि यह हॉरर फिल्म है, यह कामेडी फिल्म है, यह वार फिल्म है, यह ड्रामा है, यह एक्शन है, वैसा श्रेणीकरण हिंदुस्तानी सिनेमा का नहीं किया जा सकता। हमारे यहां हॉरर फिल्मों में भी अच्छे गाने होते हैं, मर्डर मिस्ट्री में पांच आइटम गाने होते हैं। यह हिंदुस्तानी सिनेमा का एक खास चरित्र है। हमारे यहां जो एकदम फूहड़ फिल्में हैं उनमें भी एक खास पुट सामाजिक सोद्देश्यता का होता है। उदाहरण के लिए शम्मी कपूर निर्देशित फिल्म 'बंडलबाज' को देखिये। यह एक निहायत ही घटिया फिल्म थी। इसमें एक जिन अपनी शक्तियां खो कर मनुष्य रूप में नायक के साथ रहता है। जब नायक नायिका को बचाने पहाड़ पर जाता है तो जिन भी साथ जाता है परंतु चार कदम पैदल चलने के बाद ही कहता है कि आज समझ में आया कि आम इंसान बन कर जीना कितना मुश्किल है। हमारे यहां घटिया से घटिया फिल्म में महत्वपूर्ण संवाद आता है। इसका विपरीत उदाहरण है फिल्म 'प्यासा'। प्यासा एक संजीदा फिल्म है परंतु इसमें एक कॉमेडी गाना है 'सर जो तेरा चकराए' जिसे जॉनी वॉकर पर फिल्माया गया है। संजीदा फिल्मों में भी हास्य–विनोद के प्रसंग हैं तो फूहड़ फिल्मों में भी सामाजिक प्रतिबद्धता के प्रसंग हैं। यह भारतीय सिनेमा का चरित्र है। भारतीय सिनेमा फंतासी की दुनिया है परंतु इसमें कोई न कोई रेशा ऐसा है जो सामाजिक प्रतिबद्धता से जुड़ा है।

आपने कहा कि सिनेमा में पिछले 100 सालों में काफी बदलाव आया है। इस बदलाव का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है?

देखिये, पिछले 100 सालों में समाज और सिनेमा दोनों में काफी बदलाव आया है। लेकिन ये जो बदलाव होते हैं, वे समुद्र की सतह पर ऊंची उठने वाली लहरों की तरह होते हैं। ये लहरें सतही होती हैं, परंतु समुद्र के तल में कोई लहर नहीं होती, गंभीरता होती है। तो समुद्र के तल की परिवर्तनहीनता और हमारे मूल्यों की परिवर्तनहीनता और सतह पर लहरों की परिवर्तनशीलता, इन दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करना ही आज के दौर की सबसे बड़ी चुनौती है। यह बात फिल्मों के लिए भी सच है। तमाम बदलावों के बाद भी फिल्मों का सच है कि नायक जीतेगा, खलनायक हारेगा। यह नहीं बदला है। जब मणिरत्नम ने रावण फिल्म बनाई तो उनका दृष्टिकोण था कि राम नहीं, असली नायक तो रावण ही है। परंतु यह फिल्म बॉक्स आफिस पर चारों खाने चित हो गई। भारतीय सिनेमा और समाज दोनों में एक बात हमेशा रही है कि जो नैतिक रूप से सही है, वही सफल भी होगा।

पत्रकारिता में प्रवेश करने वाले छात्रों के लिए सिने पत्रकारिता में क्या संभावनाएं है?

काफी संभावनाएं हैं। एक जमाने में प्रतिष्ठित अखबार सिनेमा का कॉलम ही नहीं रखते थे। परंतु आज सभी अखबार सिनेमा का कॉलम रखते हैं। इतना ही नहीं, अधिकांश अखबार चार पृष्ठों का सिनेमा परिशिष्ट भी निकालने लगे हैं। इसलिए संभावनाएं तो बढ़ी हैं, लेकिन केवल गॉसिप पत्रकारिता ही बढ़ी है। गंभीर फिल्म पत्रकारिता नहीं बढ़ी है। सिनेमा पर गंभीर रूप से लिखने वाले लोग काफी कम हैं।

अपने स्तंभ में आप सिनेमा की बात करते–करते चुटीली सामाजिक अथवा राजनैतिक टिप्पणी भी कर देते हैं। यह अचानक होता है अथवा सुविचारित। समकालीन मुद्दों पर टिप्पणी स्तंभ को अधिक पठनीय तथा सामाजिक दृष्टि से अधिक जिम्मेदार बनाती है? अथवा पात्रों के बहाने आपको अपनी बात कहने का स्पेस देती है?

सुविचारित ही होता है। अचानक कुछ भी नहीं होता। अगर आपको केवल सिनेमा पर लिखना है तो आप दैनिक स्तंभ नहीं लिख सकते। मैं अपने स्तंभ में बेडरूम रोमांस की बातें नहीं लिखता। मैं सिनेमा के बहाने भारत को समझने की कोशिश कर रहा हूं। मेरा मानना है कि आप चाहे कोई भी स्तंभ लिखें, यदि आप निष्ठा से अपना काम कर रहे हैं तो आप भारत का ही काम कर रहे हैं।

आपने पहले कहा कि बाजार आज अपने खरीदार का निर्माण करने लगा है। क्या सिने पत्रकार भी इस दबाव के सम्मुख नतमस्तक हैं?

यह दबाव सब जगह काम कर रहा है। संसद में भी काम कर रहा है। पत्रकार के दफ्तर में भी काम कर रहा है।

आपकी अगली पुस्तक पाठकों तक कब पहुंचेगी, उसका विषय क्या है?

अभी मैं महात्मा गांधी पर एक किताब लिख रहा हूं। यह किताब इस साल अगस्त तक आ जाएगी। वितरक के साथ हुए अनुबंध के कारण मैं उसके विषय–वस्तु के बारे में अभी कुछ नहीं बता सकता।

महात्मा गांधी फिल्मों के घोर विरोधी थे। उन्होंने हमेशा यही कहा कि फिल्मों का निर्माण समाज के हित में नहीं हैं। फिल्मी क्षेत्र के लोगों ने उन्हें एक बार एक धार्मिक फिल्म दिखाई ताकि उनकी राय बदल सके परंतु महात्मा गांधी ने उस फिल्म की तो प्रशंसा की, परंतु फिर भी फिल्मों का समर्थन नहीं किया। क्या आप मानते हैं कि महात्मा गांधी सही थे?

यह बात सच है। महात्मा गांधी के अभिन्न साथी रहे चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, जो भारत के पहले गवर्नर जनरल भी रहे, का भी कहना था कि सिनेमा पाप का संसार है। पं. नेहरू को छोड़ कर सभी राजनेता सिनेमा के विरोधी रहे हैं। पं. नेहरू ने तो सिनेमा का काफी भला किया। उनके प्रयासों के कारण ही भारतीय अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह (इफ्फी) ने पहला अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह आयोजित किया। महात्मा गांधी पर मैं अभी कुछ कहना नहीं चाहता। किताब आने के बाद ही कुछ कहना उचित होगा। ■

एडिटर्स गिल्ड का कोर्ट के दिशा निर्देश पर विरोध

अदालती कार्यवाही की रिपोर्टिंग के लिए दिशा निर्देश तय करने का विरोध करते हुए एडिटर्स गिल्ड ने सुप्रीम कोर्ट से अनुरोध किया है कि कोर्ट न्यायिक आदेश पारित करने के बजाय संपादकों को बुलाकर इस मुद्दे पर चर्चा करे। एडिटर्स गिल्ड के अधिवक्ता राजीव धवन ने कहा कि अगर कोई कानून बन गया तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और न्याय प्रदान किया जाना खतरे में पड़ सकता है।

उल्लेखनीय है कि सुप्रीम कोर्ट अदालती कार्यवाही की रिपोर्टिंग के लिए दिशानिर्देश तय करने पर विचार कर रहा है। न्यायमूर्ति एस.एच. कपाड़िया, डी के जैन, एस एस निज्जर, रंजना प्रकाश देसाई और जेएस खेहर की सदस्यता वाली पीठ ने कहा कि ऐसी 13 याचिकाएं विचाराधीन हैं जिनमें न्यायाधीशों और वरिष्ठ वकीलों पर हमला किया गया है। एडिटर्स गिल्ड ने उच्चतम न्यायालय से अदालती कार्यवाही की रिपोर्टिंग पर दिशानिर्देश जारी करने से परहेज करने को कहा है। इसी सिलसिले में धवन ने कोर्ट को कहा कि सनसनीखेज पत्रकारिता से निबटने के लिए सनसनीखेज कार्यवाही की जरूरत नहीं है।

उन्होंने पीठ से कहा कि 'हमने मीडिया अधिकारों को संतुलित करने के सवाल पर पर्याप्त समृद्ध विधिशास्त्र विकसित नहीं किया है। अवमानना कानून की छाया हमारे विधिशास्त्र पर मंडराती रहती है।' पीठ ने सुनवायी के दौरान जनहित याचिका के मामले में यह जानना चाहा कि मीडिया को कब तथ्यों को प्रकाश में लाना चाहिए।

दूसरी ओर वरिष्ठ अधिवक्ता के. के. वेणुगोपाल ने अदालत के सामने अपना मत रखते हुए कहा कि अदालत के पास विस्तृत अधिकार है। वह न्यायालय की अवमानना के कानून के बाहर जाकर भी दिशा निर्देश जारी कर सकता है।

हिन्दी सिनेमा और पत्रकारिता

ब्रजेश कुमार झा

बीते एक अप्रैल को 'द हिन्दू' अखबार ने अपनी साप्ताहिक अखबारी मैग्जीन में सिनेमा को पहला पन्ना दिया है। शीर्षक है "100 years of Indian cinema"। 'द टाइम्स ऑफ इंडिया' ने भी इस तरफ दिलचस्पी दिखाई है। उसने भी अखबार के साथ शुक्रवार को आने वाली पत्रिका 'IDIVA'में उन लोगों को याद किया है जो हिन्दी सिनेमा को नया मोड़ देने में सफल हुए। इसमें अभिनेता भी हैं, अभिनेत्रियां भी हैं और खलनायक भी। साथ–साथ कुछेक महान फिल्मकारों की भी चर्चा है। पत्रिका की यह कवर स्टोरी है और इसे कुल नौ पन्ने दिए गए हैं। कुछेक दूसरे अखबारों ने भी ऐसी कोशिश की है। यह सब ऐसे समय हो रहा है जब मान्यता है कि हिन्दी सिनेमा अपने सौ वर्ष पूरे कर रहा है। इस खास मौके पर उक्त अखबारों समेत दूसरी जगहों पर सिनेमा के बारे में जो चर्चाएं हैं, वह संतोषप्रद नहीं कही जा सकती हैं। इसमें कोई नयापन नहीं है।

हालांकि, सिनेमा व उससे जुड़े लोग अखबारों में खूब जगह पाते है। पर जिन खबरों को जगह मिलती है, वह या तो हवा बनाने वाली रपट होती है या फिर किसी खास को सुर्खियों में रखने के लिए। वैसे, कुछेक फिल्मों की चर्चा संपादकीय पेज तक आ जाती है। एक–दो हालिया उदाहरण भी हैं। वह फिल्म– 'पान सिंह तोमर' का है। उससे पहले फिल्म 'राजनीति' आई थी, जिसकी बारीक चीजों पर कुछेक लोगों का ध्यान गया था। पर ऐसे उदाहरण कम हैं। रिवाज यही है कि सिनेमाई पत्रकारिता में ढूंढ़ने–सूंघने का काम कम होता है, पर समां खूब बांधा जाता है। दुख होगा, पर सच है कि इस काम में हिन्दी अंग्रेजी से कहीं आगे है। इसे आप क्या कहेंगे कि हिन्दी सिनेमा पर आज ऐसी कोई हिन्दी पत्रिका नहीं है जो उसके बारे में मौलिक समझ बढ़ाने का काम करती हो। खैर, समझ की छोड़ें! ऐसी पत्रिका भी नहीं है जो अंग्रेजी के दूसरे दर्जे की पत्रिका का मुकाबला कर सके। कुछेक सार्थक प्रयास रह–रहकर होते हैं, पर उसका हाल हिन्दी के समानांन्तर सिनेमा सरीखा ही है।

इसके बावजूद सिनेमाई हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास इतना गरीब नहीं है कि कुछ गर्व करने के लिए मिले ही नहीं। यहां हमें पीछे लौटना होगा। बात जून, 1989 की है। 'नई दुनिया' अखबार ने हिन्दी सिनेमा के गीत–संगीत पर एक विशेषांक छापा था। उस विशेषांक का नाम था, 'सरगम का सफर'। वह विशेषांक करीब 150 पृष्ठों का था। इसके संपादकीय में लिखा था, "संगीत ने सभ्यता के यहां तक पहुंचते–पहुंचते एक विराट यात्रा पूरी की है। वह लोकसंगीत से चलकर शास्त्रीयता को समेटता हुआ, सुगम और सिने संगीत तक आ गया। इस यात्रा के बीच उसने कई पड़ाव देखे– ये सभी पड़ाव सामान्य–श्रोता की रुचि के आधार बने, बदले और बिगड़े।... हम मानकर चलते हैं कि अभी भी संगीत की जनप्रियता का आधार यही वर्ग बनाता है, लेकिन इसे उस सुगम संगीत के, जो उसकी रुचि को झनझनाता है, लयबद्ध करता है, विभिन्न पड़ावों की महत्वपूर्ण सामग्री एक जगह नहीं मिलती। मिलती भी है तो वह मोटी–मोटी जिल्दों में कैद होती है।... पाठकों को ध्यान में रखकर सरगम का सफर नामक इस अंक को संजोया है, संवारा है।"

हिन्दी सिनेमा के गीत–संगीत पर अबतक ऐसा कोई दूसरा विशेषांक नहीं आया है। न तो हिन्दी में, न ही अंग्रेजी में। हां किताबें कई अच्छी आई हैं। पंकज राग ने तो संगीतकारों पर एक मोटी किताब ही लिखी है, लेकिन पत्रकारिता में कोई मौलिक लेखन या काम नहीं हुआ है। सच यही है कि तात्कालिकता का बहाना बनाकर हम हर नायाब काम टालते रहे हैं। सिनेमा पर लिखने वाले जो हिन्दी के बड़े पत्रकार हुए, उन्होंने अपना नाम किताब लिखकर ही कमाया है। किताब ही उनकी पहचान है। अखबार उनके हुनर का पूरा इस्तेमाल नहीं कर पाया है। इस मामले में अंग्रेजी की सिनेमाई पत्रकारिता आगे है।

एक और बात है। सिनेमाई पत्रकारिता अब स्टार पर चलती है। यानी फलाना फिल्म को ढाई स्टार, फलाना को चार और फलाना को पांच। और फिर पांच स्टार पाने वाली फिल्म उक्त सिने पत्रकार की नजर में सर्वश्रेष्ठ हो जाती है। इन दिनों हम इसी ढर्रे पर हैं। याद करें 1998 का समय, जब फिल्म 'सत्या' आई थी। यह शायद हिन्दी की पहली फिल्म थी जिसे स्टार का रिवाज चलाने वाले अखबार ने पूरे पांच स्टार दिए थे। इसके बावजूद शुरू के सप्ताह में फिल्म अधिक नहीं चली, लेकिन जो लोग इस फिल्म को देखकर आते, वे दोबारा दूसरे को लेकर पुनरू फिल्म देखने जाते थे। स्वयं इस पंक्ति के लेखक ने कई मर्तबा यही किया। वह स्टार–मैनिया नहीं था, बल्कि माउथ पब्लिसिटी थी। पर यह भी सच है कि तभी से स्टार–मैनिया हावी है। हालांकि, इससे कई बार लोग धोखा खा जाते हैं, पर इसका बाजार चल निकला है। अब हिट है। यह सही है या गलत इस निष्कर्ष को तो सुधी पाठक स्वयं निकाल सकते हैं।

दूसरी तरफ जयप्रकाश चौकसे हैं। वे खूब लिखते हैं। नई जानकारी देते हैं। पर एक व्यक्ति सिनेमा के कितने खंभे संभाल सकता है। वेब मीडिया ने कदम बढ़ाया है तो अजय ब्रह्मात्मज याद आते हैं। नए लोगों में मिहिर पांड्या दखल रखते हैं। यहां खबरनवीसी कम है। शोध व साहित्य का अंश ज्यादा है। वहीं अंग्रेजी में दो–चार लोग अधिक हैं जो मानते हैं कि सिनेमा विधा को समझाने की जिम्मेदारी भी उनकी ही है। इससे अंग्रेजी के पाठक हिन्दी के मुकाबले फायदे में हैं। हिन्दी सिनेमा की अंग्रेजी पत्रकारिता दो कदम आगे है इसकी एक दूसरी वजह भी है। सिनेमाई दुनिया हिन्दी के उस भदेस रंग में डूबकर कमाई करना तो जानती है, पर उस भाषा में बतियाना उसे पसंद नहीं। इसे वे अपनी हेठी समझते हैं। हालांकि कुछेक अपवाद हैं। पहले ऐसा न था। अब भी जब कभी सार्वजनिक मंच से दिलीप कुमार बोलते हैं तो भाषा हिन्दी ही होती है। पर नया कौन है जो इकबारगी उनसा नजर आता है? ■

हिन्दी पत्रकारिता के अमिट हस्ताक्षर– राजेन्द्र माथुर

सूर्यप्रकाश

राजेन्द्र माथुर हिन्दी पत्रकारिता में अमिट हस्ताक्षर हैं। मालवा के साधारण परिवार में जन्मे राजेन्द्र बाबू ने हिन्दी पत्रकारिता जगत में असाधारण प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनका जन्म 7 अगस्त, 1935 को मध्य प्रदेश के धार जिले में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा धार, मंदसौर एवं उज्जैन में हुई। उच्च शिक्षा के लिए वे इंदौर आए जहां उन्होंने अपने पत्रकार जीवन के महत्वपूर्ण समय को जिया।

राजेन्द्र माथुर उन बिरले लोगों में से थे जो उद्देश्य के लिए जीते हैं। पत्रकार जीवन की शुरूआत उन्होंने स्नातक की पढ़ाई के दौरान ही कर दी थी। जिस समय हिन्दी पत्रकारिता मुख्य धारा में अपना स्थान बनाने के लिए संघर्ष कर रही थी, उसी समय राजेन्द्र बाबू भी पत्रकारिता में अपना स्थान बनाने के लिए आए थे। पत्रकारिता जगत में उन्होंने अपना स्थान ही नहीं बनाया बल्कि हिन्दी पत्रकारिता को भी मुख्य धारा में लाए। अंग्रेजी भाषा के अच्छे जानकार राजेन्द्र माथुर चाहते तो अंग्रेजी पत्रकारिता में अपना स्थान बना सकते थे, लेकिन तब शायद भारत के अंतर्मन को समझने का उचित मौका न मिलता।

भारतीय भाषा में भारत के सरोकारों को समझने के लिए उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता को अपने माध्यम के रूप में चुना। पत्रकारिता की दुनिया में उन्होंने नई दुनिया दैनिक पत्र के माध्यम से दस्तक दी। नई दुनिया के संपादक राहुल बारपुते से उनकी मुलाकात शरद जोशी ने करवाई थी। बारपुते जी से अपनी पहली मुलाकात में उन्होंने पत्र के लिए कुछ लिखने की इच्छा जताई। राहुल जी ने उनकी लेखन प्रतिभा को जांचने–परखने के लिए उनसे उनके लिखे को देखने की बात कही। उसके बाद अगली मुलाकात में राजेन्द्र माथुर अपने लेखों का बंडल लेकर ही बारपुते जी से मिले।

अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर गहन अध्ययन एवं जानकारी को देखकर राहुल जी बड़े प्रभावित हुए। उसके बाद समस्या थी कि राजेन्द्र माथुर के लेखों को पत्र में किस स्थान पर समायोजित किया जाए। इसका समाधान भी राजेन्द्र जी ने ही दिया। राहुल बारपुते जी का संपादकीय अग्रलेख प्रकाशित होता था, राजेन्द्र जी ने अग्रलेख के बाद अनुलेख के रूप में लेख को प्रकाशित करने का सुझाव दिया। अग्रलेख के पश्चात अनुलेख लिखने का सिलसिला लंबे समय तक चला। सन 1955 में 'नई दुनिया' की दुनिया में जुड़ने के बाद वह 27 वर्षों के लंबे अंतराल तक इस दैनिक समाचार पत्र के महत्वपूर्ण सदस्य बने रहे।

राजेन्द्र जी ने लगातार दस वर्षों तक अनुलेख लिखना जारी रखा। सन 1965 में बदलाव करते हुए उन्होंने 'पिछला सप्ताह' नामक लेख लिखना प्रारंभ किया, जिसमें बीते सप्ताह के महत्वपूर्ण घटनाक्रम की जानकारी एवं विश्लेषण प्रकाशित होता था। सन 1969 में किसी मनुष्य ने चंद्रमा पर पहला कदम रखकर अप्रत्याशित कामयाबी पाई थी। मनुष्य के चंद्रमा तक के सफर पर नई दुनिया ने 16 पृष्ठों का परिशिष्ट प्रकाशित किया था। यह कार्य राजेन्द्र माथुर के नेतृत्व में ही हुआ था। वे गुजराती कॉलेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक थे, 1969 में वे अध्यापकी छोड़ पूरी तन्मयता के साथ नई दुनिया की दुनिया में रम गए।

पिछला सप्ताह स्तंभ लिखना उन्होंने आपातकाल तक जारी रखा। आपातकाल के दौरान सरकार ने जब प्रेस की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने का प्रयास किया तब राजेन्द्र जी ने शीर्षक के नाम से सरकारी प्रतिक्रिया की परवाह किए बिना धारदार आलेख लिखे। सन 1980 से उन्होंने कल आज और कल शीर्षक से स्तंभ लिखना शुरू किया। 14 जून, 1980 को वे प्रेस आयोग के सदस्य चुने गए। जिसके बाद सन 1981 में उन्होंने नई दुनिया के प्रधान संपादक के रूप में पदभार संभाला। प्रेस आयोग का सदस्य बनने के पश्चात वे टाइम्स ऑफ इंडिया के संपादक गिरिलाल जैन के संपर्क में आए।

गिरिलाल जैन ने राजेन्द्र माथुर को दिल्ली आने का सुझाव दिया। उनका मानना था कि राजेन्द्र जी जैसे मेधावान पत्रकार को दिल्ली में रहकर पत्रकारिता करनी चाहिए। लंबे अरसे तक सोच–विचार करने के पश्चात राजेन्द्र जी ने दिल्ली का रूख किया। सन 1982 में नवभारत टाइम्स के प्रधान संपादक बन कर वे दिल्ली आए। अमेरिकी सरकार के आमंत्रण पर नवभारत टाइम्स की ओर से उन्हें अमेरिका जाने का अवसर प्राप्त हुआ। अमेरिका में गए हिन्दी पत्रकार ने अपनी अंग्रेजी की विद्वता से परिचय कराया। उनकी अंग्रेजी सुनकर अमेरिकी पत्रकार भी हतप्रभ रह गए। ऐसे समय में जब अंग्रेजी प्रतिष्ठा का

सवाल हो हिन्दी पत्रकारिता में योगदान देना प्रेरणादायी है।

दिल्ली आने के पश्चात राजेन्द्र माथुर ने नवभारत टाइम्स को दिल्ली, मुंबई से निकालकर प्रादेशिक राजधानियों तक पहुंचाने का कार्य किया। नवभारत टाइम्स को उन्होंने हिन्दी पट्टी के पाठकों तक पहुंचाते हुए लखनऊ, पटना एवं जयपुर संस्करण प्रकाशित किए। यही समय था जब राजेन्द्र माथुर को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान मिली। वे एडिटर्स गिल्ड के प्रधान सचिव भी रहे। उनके लेखन को संजोने का प्रयास करते हुए उनके लेखों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें प्रमुख हैं– गांधी जी की जेल यात्रा, राजेन्द्र माथुर संचयन– दो खण्डों में, नब्ज पर हाथ, भारत एक अंतहीन यात्रा, सपनों में बनता देश, राम नाम से प्रजातंत्र।

राजेन्द्र माथुर की पत्रकारिता निरपेक्ष पत्रकारिता थी। पूर्वाग्रहग्रसित पत्रकारिता से तो वे कोसों दूर थे। उनके निरपेक्ष लेखन का जिक्र करते हुए पत्रकार आलोक मेहता ने लिखा है–

''1985–86 के दौरान भारत की एक महत्वपूर्ण गुप्तचर एजेंसी के वरिष्ठ अधिकारी ने मुलाकात के दौरान सवाल किया– 'आखिर माथुर जी हैं क्या? लेखन से कभी वे कांग्रेसी लगते हैं, कभी हिंदूवादी संघी, तो कभी समाजवादी। आप तो इंदौर से उन्हें जानते हैं क्या रही उनकी पृष्ठभूमि?' मुझे जासूस की इस उलझन पर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने कहा, 'माथुर साहब हर विचारधारा में डुबकी लगाकर बहुत सहजता से ऊपर आ जाते हैं। उन्हें बहाकर ले जाने की ताकत किसी दल अथवा विचारधारा में नहीं है। वह किसी एक के साथ कभी नहीं जुड़े। वह सच्चे अर्थों में राष्ट्रभक्त हैं, उनके लिए भारत राष्ट्र ही सर्वोपरि है। राष्ट्र के लिए वे कितने ही बड़े बलिदान एवं त्याग के पक्षधर हैं'' (सपनों में बनता देश, आलोक मेहता)

जब उन्हें लगा कि संपादक को संपादकीय के अलावा प्रबंधन के क्षेत्र का काम भी करना होगा, तो वह द्वंद में पड़ गए। इससे उन्हें शारीरिक कष्ट हुआ। अपने सपने को टूटते बिखरते हुए वे नहीं देख पाए।

राजेन्द्र माथुर ने कभी किसी विचारधारा का अंध समर्थन नहीं किया। उनकी पत्रकारिता विशुद्ध राष्ट्रवाद को समर्पित थी। जड़ता की स्थिति में पहुंचाने वाली विचारधाराओं से उन्होंने सदैव दूरी बनाए रखी। पत्रकार के रूप में विचारधारा एवं पार्टीवाद से ऊपर उठकर वे पत्रकारिता के मिशन में लगे रहे। वर्तमान समय में जब पत्रकार विचारधाराओं के खेमे तलाश रहे हैं, ऐसे वक्त में राजेन्द्र माथुर की याद आना स्वाभाविक है।

राजेन्द्र माथुर ने बड़े ही जीवट से मूल्यपरक पत्रकारिता की थी, परंतु एक वक्त ऐसा भी आया जब वे बाजार के झंझावतों से निराश हुए। उन्होंने नवभारत टाइम्स को पूर्ण अखबार बनाने का स्वप्न देखा था। उनका यह स्वप्न तब तक रूप लेता रहा जब तक प्रबंधन अशोक जैन के हाथ था, किंतु जब प्रबंधन का जिम्मा समीर जैन पर आया तो यह स्वप्न बिखरने लगा था। समीर जैन नवभारत टाइम्स को ब्रांड बनाना चाहते थे जो बाजार से पूंजी खींचने में सक्षम हो। माथुर साहब ने अखबार को मुकम्मल बनाया था, लेकिन बाजार की अपेक्षाएं शायद कुछ और ही थीं। यही उनकी निराशा का कारण था। संभवतः पत्रकारिता के शीर्ष पुरूष की मृत्यु का कारण भी यही था। इस घटना के बारे में अनेको वर्षों तक उनके सहयोगी रहे रामबहादुर राय जी बताते हैं–

''जब उन्हें लगा कि संपादक को संपादकीय के अलावा प्रबंधन के क्षेत्र का काम भी करना होगा, तो वह द्वंद में पड़ गए। इससे उन्हें शारीरिक कष्ट हुआ। अपने सपने को टूटते बिखरते हुए वे नहीं देख पाए। मृत्यु के कुछ दिनों पहले मेरी उनसे लंबी बातचीत हुई थी। एक दिन उन्हें फोन कर मैं उनके घर गया। माथुर साहब अकेले ही थे। वह मेरे लिए चाय बनाने किचन की ओर गए तो मैं भी गया। मैंने महसूस किया था कि वे परेशान हैं। मैंने पूछा क्या अड़चन है? उन्होंने कहा– देखो, अशोक जैन नवभारत टाइम्स पढ़ते थे। उनको मैं बता सकता हूं कि अखबार कैसे बेहतर बनाया जाए। समीर जैन अखबार पढ़ता ही नहीं है। वह टाइम्स ऑफ इंडिया और इकॉनामिक टाइम्स को प्रियारिटी पर रखता है। उससे संवाद नहीं होता। उसका हुकुम मानने की स्थिति हो गई है। यही माथुर साहब का द्वंद था।'' (मीडिया विमर्श, मार्च 2012)

राजेन्द्र माथुर ने मानों शब्दों की सेवा का ही प्रण लिया था। यही कारण था कि अनेकों बार अवसर प्राप्त होने पर भी वे सत्ता शिखर से दूर ही रहे। श्री माथुर के सहयोगी रहे विष्णु खरे ने सन 1991 में उनके अवसान के पश्चात नवभारत टाइम्स में प्रकाशित लेख 'बुझना एक प्रकाश–स्तंभ का' में लिखा था–

''नवभारत टाइम्स के प्रधान संपादक बन जाने के बाद वे भविष्य में क्या बनेंगे, इसको लेकर उनके मित्रों में दिलचस्प अटकलबाजियां होती थीं और बात राष्ट्रसंघ एवं केन्द्रीय मंत्रिमंडल तक पहुंचती थी। लेकिन अपने अंतिम दिनों तक राजेन्द्र माथुर 'एडिटर्स गिल्ड ऑफ इंडिया' जैसी पेशेवर संस्था के काम में ही स्वयं को होमते रहे। राजेन्द्र माथुर जैसे प्रत्येक व्यक्ति के चले जाने के पश्चात ऐसा कहा जाता है कि अब ऐसा शख्स दुबारा दिखाई नहीं देगा। लेकिन आज जब हिन्दी तथा भारतीय पत्रकारिता पर निगाह डालते हैं और इस देश के बुद्धिजीवियों के नाम गिनने बैठते हैं तो राजेन्द्र माथुर का स्थान लेता कोई दूसरा नजर नहीं आता। बड़े और चर्चित पत्रकार बहुतेरे हैं, लेकिन राजेन्द्र माथुर जैसी ईमानदारी, प्रतिभा, जानकारी और लेखन किसी और में दिखाई नहीं दी।'' (पत्रकारिता के युग निर्माता, शिव अनुराग पटैरया)

पत्रकारिता में स्थान बनाने के बाद पत्रकार सत्ता के केंद्रों से नजदीक आने को लालायित हैं। सत्ता केन्द्र से नजदीकी को कैरियर का शिखर मानने की वर्तमान समय में परिपाटी बन गई है। ऐसे में सत्ता केन्द्रों से समानांतर दूरी रखने वाले राजेन्द्र माथुर का पत्रकार जीवन अनुकरणीय है। ■

टेलीविजन के बदले–बदले अंदाज

वंदना शर्मा

आज के दर्शक के लिए टेलीविजन के मायने पूरी तरह बदल गए हैं। अब टेलीविज़न 'चैटर बॉक्स' होने से काफी आगे निकल गया है। सेटेलाइट टेलीविजन, केबल टीवी और डीटीएच से होते हुए अब यह 'ऑनलाइन टेलीविजन' यानी कि 'इंटरनेट टेलीविजन' तक पहुंच चुका है। एक डिब्बे से आगे बढ़कर दुनिया से हाथ मिला रहा है।

अब से पहले हमें टेलीविजन देखने के लिए टीवी के साथ अपॉइंटमेंट लेनी पड़ती थी, एक विशिष्ट समय पर विशिष्ट प्रोग्राम के लिये। अब कम्प्यूटर स्क्रीन के ऊपर टेलीविजन देखने वाला व्यक्ति एक साथ कई काम करने में सक्षम है। एक ओर वह दुनिया के साथ सोशल नेटवर्किंग में फेसबुक या ट्विटर आदि के जरिए बाकी लोगों से जुड़ा होता है तो वहीं दूसरी ओर, उसी स्क्रीन से 'इंफोटेनमेंट' कर रहा होता है। यानी इंफोर्मेशन लेने के साथ–साथ टीवी की दुनिया में भी पास रह सकता है।

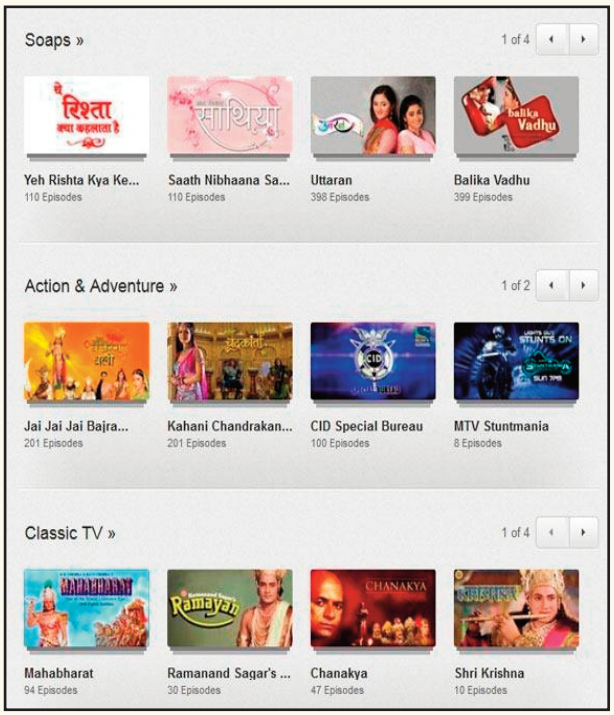

अब यह कहा जा सकता है कि कम्प्यूटर एक मल्टिपल स्क्रीन का काम करने लगा है। एक सर्वे में यह पाया गया कि ऑनलाइन टीवी देखते हुए लगभग 22 फीसदी लोग फेसबुक पर यह शेयर करते हैं कि वे टेलीविजन पर कौन सा प्रोग्राम देख रहे हैं।

ऑनलाइन टेलीविजन से यह फायदा है कि इसमें डिजिटल पिक्चर के साथ–साथ आवाज भी अच्छी गुणवत्ता वाली होती है, जिससे आज टेलीविजन की मनोरंजन की दुनिया हमारी मुट्ठी में सिमट गई है जिसे हम अपने अनुसार समय में बांध सकते हैं। भारत में ऑनलाइन टेलीविजन को देखने के लिये इंटरनेंट प्रोटोकॉल टीवी (आईपीटीवी) की आवश्यकता होती है जिसके जरिये इंटरनेट, ब्रॉडबैंड की मदद से टीवी कनेक्शन घरों तक पहुंचाया जाता है। इसे सब्सक्राइब करना जरूरी है।

गौरतलब है कि सूचना के इस नये संसार में सबसे पहले एबीसी का 'वर्ल्ड न्यूज नाउ' ऐसा कार्यक्रम था जो इंटरनेट पर प्रसारित किया गया। यूरोप के 60 से अधिक देशों में आज ऑनलाइन टीवी के लगभग 2000 चैनल चलते हैं। वर्ष 2012 के 10 सबसे लोकप्रिय इंटरनेट चैनलों की सूची में 'हुलू' को प्रथम स्थान दिया गया है। हर चैनल के अपने कंटेंट होते हैं। 'हुलू' के कंटेंट को सबसे बेहतर माना गया है। दूसरे नंबर पर 'अमेजन डॉट कॉम' को चुना गया है जबकि तीसरे पर 'इंस्टेंट वीडियो' को।

कहने का मतलब है कि अब दर्शकों को टेलीविजन का 'दास' बनकर नहीं रहना पड़ता है। इंटरनेट पर एक क्लिक के साथ आप टेलीविजन की दुनिया में से कुछ भी, जो आप चाहें–जब चाहें, देख सकते हैं। इन चैनलों पर कुछ नियम भी लागू कराये जाते हैं। जैसे कोई भी इंटरनेट चैनल किसी भी टीवी शो को अपनी मर्जी से प्रसारित नहीं कर सकता है। इसके लिये उसे कुछ 'राइट्स' लेने होते है।

'हुलू' चैनल पर जो कंटेंट है उसमें बहुत कुछ है जो शायद इसलिये ही बेहतर माना गया है। इसमें हर तरह के गाने, फिल्में और साथ ही लगभग 100 टीवी शो एक ही जगह पर हैं। यदि आप दशकों पुराने सीरियलों को फिर से देखने के शौकीन हैं तो वह भी आपको यहां आसानी से मिल जाएंगे। इसके अलावा स्पोर्ट्स, हैल्थ, एनिमेशन, डॉक्यूमेंट्री या अन्य किसी भी पसंदीदा विषय के कार्यक्रम इंटरनेट पर उपलब्ध है।

ऑनलाइन चैनलों में एक खास बात यह भी है कि किसी भी वीडियो, डॉक्यूमेंट्री या और किसी भी संबंधित कंटेंट को हम अपने किसी भी दोस्त के साथ साझा कर सकते हैं। दर्शक उसे अपनी ओर से रेटिंग पॉइंट यानी पसंद के अनुसार पहले, दूसरे या तीसरे दर्जे का स्थान दे सकते हैं। किसी भी कार्यक्रम को सर्च कर कहीं भी उस तक आसानी से पहुंचा जा सकता है। इसके साथ ही इसके पुराने एपिसोड भी देखे जा सकते हैं। इस प्रकार एक ओर यह हमें दशकों पुराने कार्यक्रमों से जोड़ता है तो दूसरी ओर हमारे वक्त की बचत भी करता है। अब दर्शक को किसी भी धारावाहिक या आवश्यक कार्यक्रम के इंतजार में घंटों टीवी के सामने नहीं बैठना पड़ता।

इस वैज्ञानिक युग में नवीन तकनीकी आविष्कार को भी अन्य आविष्कारों के साथ जुड़कर चलना होता है। तकनीकी विकास के चलते मनोरंजन की दुनिया अब पूरी तरह दर्शक के हाथ में होने जा रही है। इसका एक बेहतरीन उदाहरण एप्पल इंक ने प्रस्तुत किया है। इसे विस्तार देने के लिए एप्पल इंक एक ऐसा टेलीविजन बाजार में लाने की तैयारी में है जो दर्शकों को उनकी इच्छा के अनुसार धारावाहिक या फिल्म को तत्काल देखने की सुविधा देगा। यह टीवी चैनलों के साथ–साथ ऑनलाइन दुनिया के साथ भी जुड़ा रहेगा। इसके दर्शकों को किसी रिमोट कंट्रोल की आवश्यकता नहीं होगी। इसमें सबसे अच्छी बात यह है कि उपयोगकर्ता मोबाइल फोन, आइपैड या आवाज भी इससे नियंत्रित कर सकेंगे। जबकि, दर्शक के पास इंटरनेट कनेक्शन होना भी इसके लिये जरूरी शर्त है।

हालांकि आम लोगों के बीच सबसे ज्यादा लोकप्रिय होने वाली वीडियो साइट यू–ट्यूब है जो दर्शकों को बिखरे हुए रूप में ही सही लेकिन इंटरनेट पर कार्यक्रमों के हिस्सों को उपलब्ध करा रही है।

इस तरह के गैजेट्स के आ जाने से आज के युवाओं की जिंदगी के बदल रही है। इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि ऑनलाइन टीवी दर्शकों की टीवी पर निर्भरता को लगभग खत्म कर देगा। ■

रिपोर्टिंग सिनेमा की या सेलेब्रिटी की

मीडिया द्वारा सिनेमा की रिपोर्टिंग की बात आती है तो सबसे पहले सेलेब्रिटीज का ध्यान ही आता है, लेकिन उन लोगों पर किसी भी मीडिया द्वारा ध्यान केन्द्रित नहीं किया जाता जो वास्तव में इन सेलेब्रिटी को सेलेब्रिटी बनाने के लिए दिन रात मेहनत करते हैं अर्थात् पर्दे के पीछे रहकर जो लोग काम करते हैं, उनके बारे में मीडिया उतनी तत्परता से ध्यान केन्द्रित नहीं करता। लोग मानते हैं कि फिल्मों को चर्चित करने और दर्शक जुटाने के लिए मीडिया विवादों को हवा देता है। ''बदनाम होंगे तो नाम न होगा?'' की तर्ज पर अभिनेताओं व अभिनेत्रियों को चर्चा में बनाये रखने में मीडिया सहायक की भूमिका निभाता है। जाहिर है कि वह उनसे इसकी पूरी कीमत भी वसूल करता है। यही कारण है कि आज सिने पत्रकारिता के नाम पर फिल्मों की विषय वस्तु, कथानक, संवाद, संपादन, तकनीकी प्रयोग तथा उससे मिलने वाले सन्देश के विश्लेषण के स्थान पर नायक, नायिका के बीच रोमांस की खबरें, झगड़ें और फिल्मी पार्टियों की रिपोर्टिंग जगह लेते जा रही है। फिल्म समीक्षा पत्रकारिता की एक विधा के रूप में महत्वपूर्ण आयाम है। क्या यह अपनी भूमिका सही ढंग से निभा पा रही है? क्या उससे इससे अधिक और बेहतर की उम्मीद की जानी चाहिए?

इन सबके पीछे बाजार काम कर रहा है। सिने पत्रकारिता अब बहुत कम नजर आ रही है। ऐसा लगता है कि मीडिया, खासतौर से इलैक्ट्रॉनिक मीडिया अभिनेताओं व अभिनेत्रियों की व्यक्तिगत जिंदगी में ज्यादा दिलचस्पी ले रहा है। किसका झगड़ा हो गया, किसकी जिंदगी में कौन आया, किसने किसको मारा, कौन कहां घूमने गया, किसने क्या खाया या किसका ब्रेकअप हो गया और कुछ तो ऐसी खबरें भी होती है जिनको लिखने में मैं यहां असहज महसूस कर रहा हूं। फिल्मों के रिव्यू के अलावा बाकी सब नजर आता है। कई बार मीडिया सेलेब्रिटीज का भोंपू बनकर उनकी पब्लिसिटी करता नजर आता है। ऐसे में मीडिया पर संदेह होना लाजमी है और एक दूसरा पक्ष भी है जो टीआरपी है। टीआरपी की दौड़ ने इस तरह की सिने पत्रकारिता को हवा दी है। चटकारे वाली खबरें दिखाकर दर्शक जुटाने का ये तरीका अब आम हो गया है। अब आप इसे सिनेमा की रिपोर्टिंग कहें या सेलेब्रिटी की, लेकिन ये जो भी है, पत्रकारिता के लिए घातक है।

हिमांशु डबराल, आज समाज

फिल्म हिट करने में सबसे ज्यादा मेहनत डायरेक्टर की होती है क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता तो आमिर की 'कयामत से कयामत तक' और सलमान की 'मैंने प्यार किया' कभी हिट नहीं होती, लेकिन यहां तो कई हिट फिल्मों के डायरेक्टर का लोग नाम तक नहीं जानते। दूसरी बात हीरो की कामयाबी वहां है जब स्टोरी, सिनेमाटोग्राफी, डायलोग और सब चीजें बिलकुल बेकार बन पड़ी हो और फिल्म हिट हो जाये। तब समझ आता है की डायरेक्टर ने कोई काम नहीं किया, लेकिन हीरो ने फिल्म हिट करा दी। सच कहूं तो दिक्कत नाम न होने से नहीं है क्योंकि ये तो सीधा सा फंडा है कि जो दिखता है वही बिकता है। असल दिक्कत ये है कि पीछे बैठे उस मेहनत करने वाले को क्रेडिट तो नहीं ही मिलता साथ ही साथ पैसा भी नहीं।

विकास शर्मा, नवभारत टाइम्स

फिल्म समीक्षा मीडिया का ही एक अंग है और वह सुचारु रूप से काम भी कर रहा है। जहां तक बात इसके सही ढंग से कार्य निर्वाह की है तो कुछ मीडिया संस्थान तो इसे निष्पक्षता से निभा रहे हैं पर कुछ लोग इसे धन–उगाही का माध्यम बनाते हुए हुए विवाद को जन्म देते हैं। जिससे नकारात्मता के जरिए ही यह विवाद जंगल में लगे आग की तरह फैल जाती है और दर्शक केवल विवाद के प्रति जिज्ञासा के कारण थियेटर तक खिंचे चले आते हैं। इन्हीं विवादों में अभिनेता–अभिनेत्रियों के बीच के रोमांस की बातों से लेकर समाज में तरंगे पैदा करने जैसे मुद्दों को हवा दी जाती है। पर यह सब केवल कुछ दिनों के लिए होता है, जो पानी के बुलबुलें की तरह थोड़ा ठहरते ही शांत हो जाता है। ऐसे में जब दर्शक फिल्म को देखते हैं तो फिल्म के प्रति उनकी रुची भी घटती है, साथ ही ये दर्शक आपस में बातचीत कर अन्य लोगों को भी प्रभावित करते हैं। इसका सबसे ताजा उदाहरण 'एजेंट विनोद' फिल्म है, जिसमें बेहतरीन स्टोरी के साथ जेम्स बांड सरीखे कलाबाजी और कमाल की कहानी होने की बात कही गयी थी। पर जैसे ही दर्शकों की एक खेप ने फिल्म में नुख्श निकाला बाकि दर्शक भी फिल्म से किनारे हो गये। आज हालत ऐसी है कि फिल्म पर फ्लॉप का टैग लग चुका है। जहां तक बात मीडिया में सुधार लाने की है तो यह निश्चित तौर पर जरुरी कदम है। मीडिया का काम लोगों में रोमांच लाना नहीं है बल्कि सही तथ्य को रख कर लोगों को उसमें रोमांच खोजने या फिर उसे दरकिनार करने का वैकल्पिक रास्ता अपनाने का है। जबकि आज मीडिया किसी भी फिल्म के बारे में धन प्राप्त कर उसके एक बिन्दु को उठा कर लोगों को उत्साहित करने का काम करता है ताकि लोग फिल्म के प्रति अपनी रूचि दिखायें।

आकाश कुमार राय, हिन्दुस्थान समाचार

वास्तव में फिल्म समाज का आईना होती है। समाज में घट रहे घटनाक्रम को रंगीन चलचित्रों के माध्यम से पर्दे पर प्रस्तुत करना ही सिनेमा का मुख्य उद्देश्य है। एक समय था जब सिनेमा की रिपोर्टिंग करने वाला पत्रकार वास्तव में सिने जगत की अच्छाईयों और बुराईयों को उजागर करता था। फिल्म की समीक्षा के माध्यम से पाठक सहज ही फिल्म के स्तर का मूल्यांकन कर लेते थे, लेकिन आज रेटिंग पॉइंट व फिल्म समीक्षा उस फिल्म को हिट कराने के लिए फिल्म निर्माताओं द्वारा मीडिया के माध्यम से तैयार कराए जाते हैं। वहीं कोई भी समाचार पत्र अश्लीलता का सहारा लेकर अपने समाचार पत्र की प्रसार संख्या बढ़ाने में लगा है जो दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है और सिने पत्रकारिता के पतन की ओर संकेत करती है।

आशीष प्रताप सिंह, पीटीसी न्यूज ■

हिन्दी समाचार पत्रों में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की प्रस्तुति का अध्ययन

डॉ. सौरभ मालवीय चर्चित मीडिया शख्सियत हैं। उनके व्यक्तित्व के कई आयाम हैं। अपने छात्र जीवन से ही एक्टिविस्ट रहे डॉ. मालवीय प्राध्यापक व मीडिया एक्टिविस्ट के रूप में मशहूर हैं। उन्होंने माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय (मा.च.रा.प.वि.वि.), भोपाल से पत्रकारिता में स्नातकोत्तर की डिग्री हासिल करने के पश्चात गत वर्ष अक्टूबर महीने में यहीं से पत्रकारिता विभाग में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। उन्हें मा.च.रा.प.वि.वि., भोपाल में अध्ययन करने और यहीं अध्यापन करने का अनुपम सौभाग्य प्राप्त है। वर्तमान में वह विश्वविद्यालय के प्रकाशन अधिकारी का दायित्व संभाल रहे हैं। डॉ. मालवीय ने मा.च.रा.प.वि.वि. के कुलपति प्रो. बृज किशोर कुठियाला के निर्देशन में अपना शोध कार्य पूरा किया। उनके शोध का विषय है "हिन्दी समाचार पत्रों में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की प्रस्तुति का अध्ययन।" अपने शोध में डॉ. मालवीय ने बताया कि पत्रकारिता और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में एक अन्योन्याश्रित संबंध है। राष्ट्रवाद वास्तव में सांस्कृतिक ही होता है। राष्ट्र का आधार संस्कृति ही होती है और पत्रकारिता का उद्देश्य ही राष्ट्र के विभिन्न घटकों के बीच संवाद स्थापित करना होता है। स्वाधीनता संग्राम के दौरान ही भारतीय पत्रकारिता का सही स्वरूप विकसित हुआ था और व्यावसायिक पत्रकारिता की तुलना में राष्ट्रवादी पत्रकारिता ही उस समय मुख्यधारा की पत्रकारिता थी। स्वाधीनता के बाद धीरे–धीरे इसमें विकृति आनी शुरू हो गई। पत्रकारिता का व्यवसायीकरण बढ़ने लगा। देश के राजनीतिक और सामाजिक ढांचे में भी काफी बदलाव आ रहा था। स्वाभाविक ही था कि पत्रकारिता उससे अछूती नहीं रह सकती थी। फिर देश में संचार क्रांति आई और पहले दूरदर्शन और फिर बाद में इलेक्ट्रॉनिक चैनलों का पदार्पण हुआ। इसने जहां पत्रकारिता जगत को नई ऊंचाइयां दीं, वहीं दूसरी ओर उसे उसके मूल उद्देश्य से भी भटका दिया। धीरे–धीरे विचारों के स्थान पर समाचारों को प्रमुखता दी जाने लगी, फिर समाचारों में सनसनी हावी होने लगी और आज समाचार के नाम पर केवल और केवल सनसनी ही बच गई है।

आज पत्रकारिता में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को तवज्जो नहीं दी जाती जिसके पीछे पाठक वर्ग की रूचि न होने का कारण बताया जाता है, लेकिन इस शोध में इस तर्क का आंकड़ों के साथ खंडन किया गया है। सर्वेक्षण के परिणामों से स्पष्ट होता है कि 80 प्रतिशत पाठक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बारे में पढ़ने में रूचि रखते हैं और 60 प्रतिशत पाठकों का मानना है कि मीडिया में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को उचित महत्व नहीं दिया जाता है। यह आंकड़ा उन संपादकों और मीडिया घरानों के लिए चौंकाने वाला हो सकता है जो अभी तक यह मानते रहे हैं कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक कालबाह्य विचार है और आज का पाठक उसमें रूची नहीं रखता। यह आंकड़ा और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जब हम यह देखते हैं कि सर्वेक्षण के प्रतिभागियों में सबसे अधिक संख्या युवाओं (40 प्रतिशत) और स्नातक या उससे अधिक शिक्षितों (44 प्रतिशत) की है। यानी शिक्षित युवा भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बारे में पढ़ने और जानकारी रखने में पर्याप्त रूचि रखते हैं। सर्वेक्षण से यह भी स्पष्ट होता है कि पाठक मीडिया में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को दिए जाने वाले महत्व व स्थान से संतुष्ट नहीं हैं और 60 प्रतिशत पाठकों का मानना है कि मीडिया में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को उचित महत्व नहीं दिया जा रहा है। रोचक बात यह भी है कि 41 प्रतिशत प्रतिभागियों ने इसका कारण मीडिया का अपना पूर्वाग्रह बताया जबकि 23 प्रतिशत पाठकों का मानना था कि देश में ऐसी गतिविधियों के कम होने के कारण मीडिया में इसे कम स्थान मिलता है। बहरहाल इस सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश का पाठक वर्ग मीडिया में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को दिए जा रहे महत्व व स्थान से असंतुष्ट है और वह इस पर और सामग्री पढ़ना चाहता है।

एक ओर हम जहां यह पाते हैं कि आज के मीडिया जगत में काफी गिरावट आई है और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का स्वर कमजोर पड़ा है तो दूसरी ओर आशा की नई किरणें भी उभरती दिखती हैं। आशा की ये किरणें भी इस संचार क्रांति से ही फूट रही हैं। आज मीडिया जगत इलैक्ट्रॉनिक चैनलों से आगे बढ़ कर अब वेब पत्रकारिता की ओर बढ़ गया है। वेब पत्रकारिता के कई स्वरूप आज विकसित हुए हैं, जैसे ब्लाग, वेबसाइट, न्यूज पोर्टल आदि। इनके माध्यम से एक बार फिर देश की मीडिया में नए खून का संचार होने लगा है। इस नए माध्यम का तौर–तरीका, कार्यशैली और चलन सब कुछ परंपरागत मीडिया से बिल्कुल अलग और अनोखा है। जैसे, यहां कोई भी व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत पत्रकारिता कर सकता है। वह ब्लाग बना सकता है और वेबसाइट भी। हालांकि इन नए माध्यमों में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रभाव का अध्ययन किया जाना अभी बाकी है लेकिन अभी तक जो रूझान दिखता है, उससे कुछ आशा बंधती है। पत्रकारिता की इस नई विधा को परंपरागत पत्रकारिता में भी स्थान मिलने लगा है और इसकी स्वीकार्यता बढ़ने लगी है।

भारतीय मीडिया की विषयवस्तु पर समय–समय पर टिप्पणियां, विश्लेषण और शोध हुए है। परंतु आज यह देखने की आवश्यक्ता है कि हमारा मीडिया समाज को किस दिशा में ले जाने की कोशिश कर रहा है? इसलिए भारतीय मीडिया की विषयवस्तु किस–किस तरह की विचारधारा की पोषक है, जानना आवश्यक है।

साथ यह जानना भी आवश्यक है कि विभिन्न विचारधाराओं का पोषण किस अनुपात में हो रहा है। राष्ट्र के सामाजिक व सांस्कृतिक नेतृत्व के भविष्य की दिशाओं का निर्धारण करने के लिए जिन जानकारियों की आवश्यक्ता है, उन सब जानकारियों को संग्रहीत कर शोधकर्ता ने अपने शोध के माध्यम से लोगों को जागरूक करने का एक अथक प्रयास किया है। डॉ. मालवीय का यह शोध बहुचर्चित रहा क्योंकि उन्होंने मीडिया में साम्यवाद और समाजवाद के वर्चस्व की तस्वीर को तथ्यों के साथ प्रस्तुत किया एवं राष्ट्रवादी पत्रकारिता की जरूरत को रेखांकित किया। ■

हिंदी पत्रकारिता का समाचार–सूर्य 'उदन्त मार्तण्ड'

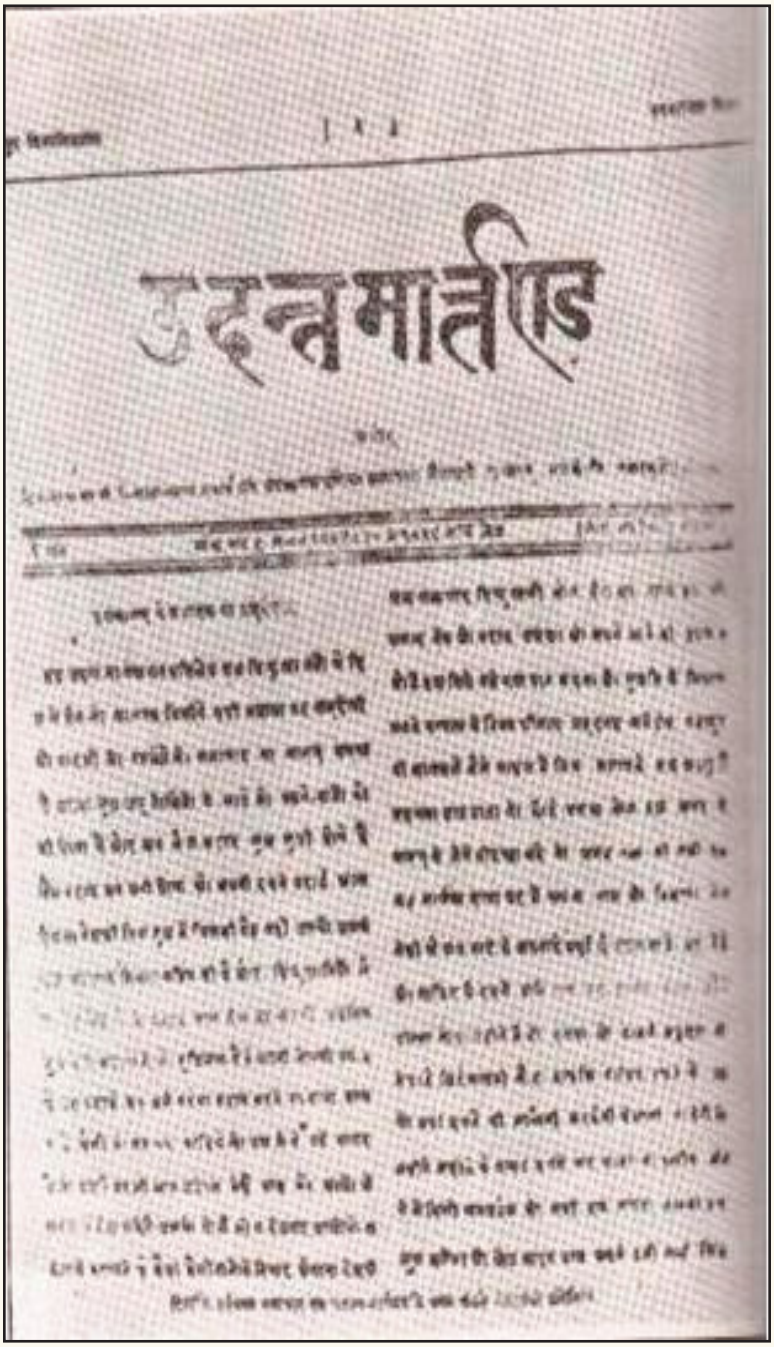
उदन्त मार्तण्ड

30 मई, 1826 हिंदी पत्रकारिता के इतिहास की महत्वपूर्ण तारीख है। इसी दिन हिंदी के सर्वज्ञात प्रथम समाचार पत्र उदन्त मार्तण्ड का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। उदन्त मार्तण्ड का शाब्दिक अर्थ है 'समाचार–सूर्य'। अपने नाम के अनुरूप ही उदन्त मार्तण्ड हिंदी की समाचार दुनिया के सूर्य के समान ही था। उदन्त मार्तण्ड का प्रकाशन मूलतः कानपुर निवासी पं. युगल किशोर शुक्ल ने किया था। यह पत्र ऐसे समय में प्रकाशित हुआ था जब हिंदी भाषियों को अपनी भाषा के पत्र की आवश्यकता महसूस हो रही थी। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर 'उदन्त मार्तण्ड' का प्रकाशन किया गया था। पत्र के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए युगल किशोर शुक्ल ने लिखा था जो यथावत प्रस्तुत है–

''यह उदन्त मार्तण्ड अब पहले पहल हिंदुस्तानियों के हेत जो, आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी ओ पारसी ओ बंगाली में जो समाचार का कागज छपता है उसका उन बोलियों को जान्ने ओ समझने वालों को ही होता है। और सब लोग पराए सुख सुखी होते हैं। जैसे पराए धन धनी होना और अपनी रहते परायी आंख देखना वैसे ही जिस गुण में जिसकी पैठ न हो उसको उसके रस का मिलना कठिन ही है और हिंदुस्तानियों में बहुतेरे ऐसे हैं''

हिंदी के पहले समाचार पत्र उदन्त मार्तण्ड ने समाज के विरोधाभासों पर तीखे कटाक्ष किए थे। जिसका उदाहरण उदन्त मार्तण्ड में प्रकाशित यह गहरा व्यंग्य है–

''एक यशी वकील अदालत का काम करते–करते बुड्ढा होकर अपने दामाद को वह सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन वह काम करके एक दिन आया ओ प्रसन्न होकर बोला हे महाराज आपने जो फलाने का पुराना ओ संगीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ यह सुनकर वकील पछता करके बोला कि तुमने सत्यानाश किया। उस मोकद्दमे से हमारे बाप बड़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठा के दे गए ओ हमने भी उसको बना रखा ओ अब तक भली–भांति अपना दिन काटा ओ वही मोकद्दमा तुमको सौंप करके समझा था कि तुम भी अपने बेटे पाते तक पालोगे पर तुम थोड़े से दिनों में उसको खो बैठे''।

उदन्त मार्तण्ड ने समाज में चल रहे विरोधाभासों एवं अंग्रेजी राज के विरूद्ध आम जन की आवाज को उठाने का कार्य किया था। कानूनी कारणों एवं ग्राहकों के पर्याप्त सहयोग न देने के कारण 19 दिसंबर, 1827 को युगल किशोर भुक्ल को उदन्त मार्तण्ड का प्रकाशन बंद करना पड़ा। उदन्त मार्तण्ड के अंतिम अंक में एक नोट प्रकाशित हुआ था जिसमें उसके बंद होने की पीड़ा झलकती है। वह इस प्रकार था–

''आज दिवस लौ उग चुक्यों मार्तण्ड उदन्त।
अस्ताचल को जाता है दिनकर दिन अब अंत।।''

उदन्त मार्तण्ड बंद हो गया, लेकिन उससे पहले वह हिंदी पत्रकारिता का प्रस्थान बिंदु तो बन ही चुका था। उदन्त मार्तण्ड के प्रकाशन के बाद हिंदी पत्रकारिता ने लंबा सफर तय किया है। जिसका प्रेरणास्रोत उदन्त मार्तण्ड ही था। ■

समांतर सिनेमा का सामाजिक प्रभाव पर चर्चा

समांतर सिनेमा में राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना नहीं है। उक्त बातें भारत नीति प्रतिष्ठान के तत्वाधान में 'समांतर सिनेमा का सामाजिक प्रभाव' विषय पर चर्चा के दौरान संबंधित विषय पर वक्ता के रूप में उपस्थित चर्चित कवि व वरिष्ठ पत्रकार श्री मंगलेश डबराल ने कही।

उन्होंने बताया कि समांतर फिल्म आंदोलन व नयेपन की शुरूआत सन् 1969 में प्रदर्शित मृणाल सेन की 'भुवनशोम' से हुई है।1969 में आने वाली तीनों फिल्में मणि कौल की 'उसकी रोटी', मृणाल सेन की 'भुवनशोम' व बसु चटर्जी की 'सारा आकाश' साहित्य रचना पर आधारित फिल्में थी, जिन्होंने ड्रीमलैंड को सिनेमा में लाने की पहल की।

मुम्बईया फिल्मों के पतन के लिए डॉयरेक्टर रमेश सिप्पी को जिम्मेदार ठहराते हुए, उन्होंने कहा कि 'दीवार' व 'संजोग' फिल्म मरते हुए मुम्बईया सिनेमा के लिए संजीवनी साबित हुई। उन्होंने बताया कि अल्पसंख्यक व दलित वर्ग की समस्याओं पर आधारित फिल्म 'नीचा नगर' ऐसी फिल्म थी, जिसमें अल्पसंख्यकों व दलितों से जुड़ी तात्कालिक समस्याओं को पर्दे पर ऐसे खूबसूरत ढंग से प्रदर्शित किया गया है, जिसने हर दर्शक के अन्तः मन को छूआ है।

चर्चा के दौरान संबंधित विषय पर अपना आलेख प्रस्तुत करते हुए डॉ. पूजा खिल्लन ने कहा कि भारतीय कलाकारों ने पश्चिम की साहित्यक विद्याओं को अपने अनुरूप सांचे में ढाला और तराशा है।

डॉ. पूजा खिल्लन ने बताया कि यह सही है कि सिनेमा पश्चिम की विद्या है और उसका जन्म तथा कलात्मक विकास वहीं संभव हुआ लेकिन भारतीय सिनेमा के इतिहास पारसी थियेटर, पृथ्वी थियेटर और भांड, यात्रा, लावनी, नौटंकी आदि पारंपरिक नाट्य रूपों का भी विशेष योगदान रहा है।

चर्चा के दौरान श्री डबराल ने बताया कि भारत में प्रत्येक दिन 5 फिल्में व सालाना 1800 फिल्में बनती हैं। कार्यक्रम में श्री ज्ञानेन्द्र पांडे, प्रो. राकेश सिन्हा व अन्य कई लोग उपस्थित रहे।

राम बहादुर राय पर केन्द्रित 'मीडिया विमर्श' का विमोचन

जनसंचार के सरोकारों से जुड़ी त्रैमासिक पत्रिका मीडिया विमर्श के बहादुर अंक का विमोचन छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री डा. रमन सिंह ने किया। मीडिया विमर्श का यह अंक जानेमाने वरिष्ठ पत्रकार राम बहादुर राय पर केंद्रित है। इस अंक में राम बहादुर राय से जुड़ी अनेक सामग्री प्रकाशित की गई है। रायपुर में आयोजित इस कार्यक्रम में डा. रमन सिंह ने कुछ और किताबों का भी विमोचन किया। इस दौरान मीडिया विमर्श की प्रकाशक भूमिका द्विवेदी, सांसद तरुण विजय समेत कई लोग मौजूद रहें। इस अंक में श्री राय पर देश के अनेक महत्वपूर्ण लेखकों ने अपनी कलम चलाई है तथा उनके कई साक्षात्कार इस अंक में उपलब्ध है।

प्रदीप सौरभ को अंतर्राष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान

ब्रिटेन में बसे दक्षिण एशियाई लेखकों के संगठन कथा यू.के. की लंदन से जारी विज्ञप्ति के अनुसार 2012 का अंतर्राष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान वरिष्ठ राजनैतिक पत्रकार प्रदीप सौरभ को उनके उपन्यास 'तीसरी ताली' पर देने का निर्णय लिया गया है। यह उपन्यास हिजड़ों

और समलैंगिकों के जीवन पर आधारित है। कथा यू.के. की विशेषता यह है कि वह पिछले दो सालों से जिन लोगों को इंदु शर्मा कथा सम्मान दे रहा है, वे ऐसे लोग हैं जो साहित्य के किसी समूह से नहीं आते। ये ऐसे लोग हैं जिन्होंने पत्रकारिता के रास्ते साहित्य की समझ पैदा की और अच्छे उपन्यास रचे। वरिष्ठ पत्रकार और कथाकार प्रदीप सौरभ को 28 जून को ब्रिटिश संसद में अंतर्राष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान प्रदान किया जाएगा। उन्हें यह सम्मान लंदन में 'हाउस ऑफ कॉमंस' में 28 जून को आयोजित एक समारोह में प्रदान किया जाएगा। एक जुलाई 1960 को कानपुर में जन्मे प्रदीप सौरभ ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एमए की डिग्री हासिल की। जनआंदोलनों में हिस्सा लिया। कई बार जेल गये। वे साप्ताहिक हिंदुस्तान के संपादन विभाग से लंबे अर्से तक जुड़े रहे। आजकल वह 'द सी एक्सप्रेस' में राजनैतिक संपादक हैं। तीसरी ताली के अलावा सौरभ के दो अन्य उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' और 'देश भीतर देश' प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी अन्य कृतियों में 'भारतेन्दु कृत अंधेर नगरी सर्वेश्वर का रचना संसार' और कविता संग्रह 'दरख्त के दर्द' शामिल हैं। इंदु शर्मा कथा सम्मान इससे पहले चित्रा मुद्गल, संजीव ज्ञान चतुर्वेदी, विभूति नारायण राय, असगर वजाहत, महुआ माजी, नासिरा शर्मा और ऋषिकेश सुलभ को प्रदान किया जा चुका है।

रिपोर्टिंग दुनिया का सबसे खराब पेशा

भारतीय लोकतंत्र में चौथे स्तम्भ के रूप में कार्य करने वाली मीडिया में रिपोर्टरों के कार्य को अमेरिका की एक संस्था ने दुनिया के दस सबसे खराब प्रोफेशन में शामिल किया है। कसाई, वेटर व बर्तन धोने वाले के कार्य को उसके नीचे की श्रेणी में स्थान दिया है।

अमेरिकी कंसल्टेंसी करियर कास्ट ने अपने सर्वेक्षण में सॉफ्टवेयर इंजीनियर के व्यवसाय को वर्ष 2012 के लिए सर्वश्रेष्ठ बताया है, जबकि

रिपोर्टर की नौकरी को सबसे खराब व्यवसाय की सूची में पांचवें स्थान पर रखा है। इस सर्वेक्षण के अंतर्गत 200 प्रकार की नौकरियों को पांच प्रमुख मापदंडों के आधार पर विभाजित किया गया था, जिसमें शारीरिक जरूरत, काम का माहौल, वेतन, तनाव और लोगों की धारणा के आधार पर इन नौकरियों को सबसे अच्छी से सबसे खराब में सूचीबद्ध करना था।

अमेरिका के ब्यूरो ऑफ लेबर और अन्य सरकारी एजेंसियों के आंकड़ों के आधार पर इस सर्वेक्षण में अमेरिका की सभी प्रकार की नौकरियों को रखा गया था। सर्वेक्षण में कहा गया है कि भले ही रिपोर्टर की नौकरी कितनी ही आकर्षक क्यों न लगती हो, लेकिन काम के दवाब, आय का स्तर और नौकरी के घटते अवसरों को देखते हुए इसे सबसे खराब और सबसे असहज कामों की सूची में डाला गया है।

इस सूची में सबसे तनावपूर्ण नौकरियों को भी रखा गया है। इनमें सैनिकों, अग्निशमन कर्मचारियों, हवाई जहाज पायलट, जनसंपर्क अधिकारी, कंपनियों में वरिष्ठ कार्यकारी अधिकारी, फोटो जर्नलिस्ट और टैक्सी ड्राइवर की नौकरियों को शामिल किया गया है।

मीडिया–शब्दावली

1. अबव द लाइन– प्रोडक्शन की प्रक्रिया में हुए अप्रत्यक्ष खर्च।

2. असाइनमेंट एडिटर– न्यूज रूम में मौजूद व्यक्ति जो दिनभर की न्यूज पर नजर रखता है और संवाददाताओं को जिम्मेदारी सौंपता है।

3. ऑडियो–वीडियो लिंकेज– शब्दों और चित्रों का व्यावसायिक संगम जिसमें तस्वीरों से मेल खाते हुए दिखें।

4. आर्काइव– लाइब्रेरी में संग्रहित पुराने समाचार, वीडियो या दूसरी सामग्री।

5. आर्क– कैमरे को ट्रॉली में रखकर गोलाकार घुमाना। इससे विषय तो वहीं स्थिर रहता है लेकिन पीछे की वस्तुएं घूमती हुई महसूस होती हैं।